त्रयी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

'प्रसाद-साहित्य अन्तःप्रज्ञा की स्वतःस्फूर्ति मात्र नहीं, अध्ययन, बोध और आचरण के समीकरण का परिणाम है ।' 'कामायनी केवल काव्य नहीं, शास्त्र भी है ।' 'हिन्दी में कामायनी के अतिरिक्त रामचरित मानस ही ऐसी, काव्य और शास्त्र की समन्वित, उपलब्धि का एकमात्र आदर्श निदर्शन है ।'

'कामायनी का पूर्वार्द्ध कुमार संभव के स्तर का ही है । प्रसाद को 'आधुनिक हिन्दी' का कालिदास कहा जा सकता है ।'

''महत् साहित्य की कसौटी सार्वभौमिकता ही हो सकती है । देश और काल के आवेष्टन के प्रति प्रतिक्रियाओं में से सार्वदेशिक और सार्वकालिक तत्त्वों का आकलन महान कलाकार ही कर पाता है । हिन्दी में पहले रामचरित मानस के कवि ने किया था, फिर कामायनी के प्रसाद ने किया ।''

''कालिदास और रवीन्द्रनाथ दोनों ही जीवन-रस के महाकवि हैं, जबकि प्रसाद जीवन के बड़े व्याख्याता । दार्शनिक कवि के रूप में इनका अपना स्थान है ।''

●

''निराला अद्वैतवादी भी हैं, द्वैतवादी भी; भक्त भी और ज्ञानी भी; पुनरुत्थानवादी भी और क्रान्तिकारी भी, लौह-प्रहार तथा ललकार भी और आत्म-परमात्म मिलन की मधुर झंकार भी । वह वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वर्ग में विचरनेवाला मुक्त विहग भी हैं और पतनोन्मुख रूढ़िप्रिय संस्कृति की विहग बालिका के लिए भयंकर बाज भी; उसमें लौकिक प्रेम की ललक भी है और आध्यात्मिक भूमि पर अनुभूति की आत्मपुलक भी; निराला विरोधों का स्वयं सामंजस्य और सामंजस्यों का विरोध हैं ।

(अगले फ्लैप पर जारी)

त्रयी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

अभिधा प्रकाशन

I.S.B.N. 81-88584-54-1

मूल्य	:	150 रुपये
©	:	**लेखकाधीन**
परिवर्द्धित संस्करण	:	2006
प्रकाशक	:	**अभिधा प्रकाशन**
कार्यालय	:	रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर - 842002
दिल्ली सम्पर्क	:	प्रताप गली, ईस्ट रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली - 110032
अक्षर-संयोजन	:	**अजीत कुमार वर्मा**
आवरण	:	**अमिताभ राय**
मुद्रक	:	बी० के० ऑफसेट, दिल्ली - 32

TRAYEE (Criticism)

By **Acharya Jankivallabh Shastri**

नयी काव्य मीमांसा

'त्रयी' हिन्दी के तीन बड़े आधुनिक कवियों पर केन्द्रित अभिनव 'काव्य मीमांसा' है, अपने ढंग की एक लोकप्रिय आलोचना कृति, जो पिछले चार दशकों से छायावादी कही जानेवाली कविताओं की समझ के लिए मार्गदर्शक वृत्तान्त बनी हुई है । मीमांसक स्वयं उत्तर छायावाद की सबसे बड़ी सृजन-प्रतिभा हैं–आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, निराला को याद करें तो उनके तुलसीदास की तरह ही–'समधीत शास्त्र काव्यालोचन' और 'गद्य में पद्य में समाभ्यस्त' भी ।

प्रतिभा का कोई विकल्प नहीं होता, वह चाहे कारयित्री हो, भावयित्री हो । प्रतिभा के अभाव में नवोन्मेष नहीं हो सकता, क्षेत्र चाहे सृजन का हो, समालोचना का हो । कठोर शास्त्राभ्यास के भी विलक्षण कारनामे हैं । हिन्दी काव्यालोचन में उसके विपुल दृष्टान्त हैं । एक सरल-सी रचना की गूढ़ातिगूढ़ मीमांसा अमूमन एक अरोचकी विडम्बना ही है, पहाड़ खोदकर चुहिया निकालने की तरह । शास्त्री जी का पाण्डित्य आलोचना में उनके व्यक्ति-विवेक को कहीं दबोच नहीं लेता । उनका विमर्श एक श्रेष्ठ रचना की तरह लक्ष्यनिष्ठ होने के साथ-साथ आस्वाद्य भी बना रहता है । मूल्य-निर्णय से पहले रचना के अन्तरंग-बहिरंग का सूक्ष्म परीक्षण उनकी आलोचना में सब जगह मिलेगा । जिसकी रचना 'भाषा की संस्कृति' का पर्याय हो, आलोचना मिथकीय कैसे हो सकती है ?

शमशेर ने कभी कहा था,–'हकीकत को लाये तखैयुल से बाहर/मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाये ।' शास्त्री जी आलोचना में यही करते हैं । वे तखैयुल से हकीकत को बाहर ले आते हैं और खासतौर से छायावादी कविताओं के अध्येता की मुश्किल 'त्रयी' में आसान कर देते हैं । छायावादी कविता का छायावाद चाहे जितना संदिग्ध रहा हो यह एक तथ्य है कि उसकी आलोचना नि:संकोच छायावादी होती रही है । शास्त्री जी की आलोचना छायावादी नहीं है, मिथकीय नहीं है, शास्त्रीय भी नहीं है । उसमें संस्मरण का समावेश है, जगह-जगह आख्यान और नाट्य के अनुभवों से वह रोचक

ज्ञानवर्द्धक बनती रहती है तथापि अर्थ-मीमांसा उसकी प्राणशक्ति है । अन्तर्वस्तु का सटीक संज्ञान और संरचना की बारीकियों का उद्‌घाटन इस आलोचना की विशेषता है ।

कविता का सच और सच की कविता तत्त्वतः अविरोधी हैं और भावक की नजर अद्वैत पर टिकी हो तो विमर्श में एक खास तरह की चमक आ जाती है । इसलिए वस्तुनिष्ठ लेखन का शास्त्री जी का एक सुस्पष्ट दार्शनिक आधार है, स्वार्थ-संबन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर का आधार । शास्त्रीजी का नाम इतिहास में निराला से जुड़ा है । प्रसाद और पन्त का पता भी वही देते हैं । तब भी, निराला काव्य पर विचार करते समय शास्त्री जी का मीमांसक कृतज्ञता के बोझ से इतना नहीं दब गया है कि प्रसाद की प्रकृति परखने में चूक हो जाय या पन्त की आकृति ओझल हो जाय । 'त्रयी' के तीनो कवि विलक्षण हैं तो उनका मूल्यांकन भी विलक्षण होना चाहिए । रचना की महत्ता से आलोचना भी महान हो जाती है । शास्त्री जी ने 'त्रयी' के कवियों पर गहरी आत्मीयता से विचार किया है । प्रसाद-निराला-पन्त के साहचर्य और आत्मीय संपर्क में रहने का सुयोग शास्त्री जी को मिला तो उनके वास्तविक महत्त्व के उद्‌घाटन का दायित्व भी उन्हीं का था । अपने आलोचक-दायित्व का निर्वाह उन्होंने विलक्षण कवि-प्रतिभा के आलोक में किया है । उन्होंने ज्ञान और संवेदना में से एक का पलड़ा झुकने नहीं दिया । उनका पाण्डित्य सहृदय की बाधा नहीं बना, यह सच है लेकिन अपरिहार्य होने पर डॉ० देवराज जैसे बड़े दार्शनिक को वे दर्शन का मर्म समझाते हुए मिलेंगे । यही नहीं, ईलियट और जॉर्ज लुकाच तक की सीमाएँ उजागर करते हुए शास्त्री जी अपने अधुनातन अध्यवसाय का पता देते हैं । बाँग्ला, उर्दू आदि भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन भी शास्त्री जी के काव्यालोचन के काम आता है ।

विमर्श के सिलसिले में 'बुद्धि की मुक्तावस्था' से परिचालित शास्त्री जी शुरु से ही सत्ता विषयक मीमांसा में अरुचि प्रदर्शित करते हैं । किसी को नीचा दिखाना, उसका अवमूल्यन करना उनका प्रयोजन कभी नहीं रहा । हिन्दी जाति की भाषा की संस्कृति उन्नत हो, समृद्ध हो, हिन्दीवाले आत्मतुष्ट न हों तो आत्महीनता का ग्रास भी न बनें, इसके लिए निराला जी ने जीवनपर्यन्त संघर्ष किया । शास्त्री जी रचना और आलोचना के मोर्चे पर निराला के संघर्ष को आगे बढ़ाते हैं ।

'त्रयी' की एक बड़ी विशेषता है, परम्परा के जीवित तत्त्वों की पहचान । इसमें संकलित निबन्धों में विचार ही यात्री हैं जो कहीं से चलना शुरू करते हैं तो कहीं पहुँचते भी हैं । ऊपर-ऊपर व्यावहारिक लगने पर भी एक पूरा सौन्दर्यशास्त्र गढ़ने की रचनात्मक विकलता 'त्रयी' में विन्यस्त है । सौन्दर्य-मीमांसा सत्य और शिव को समेट लेती है । सौन्दर्य-अनुशीलन संरचना में स्वयं भी स्वतंत्र कला जैसा हो तो क्या कहना ! 'त्रयी' की महत्ता इस दृष्टि से भी समझी जा सकती है ।

शास्त्री जी गुणग्राही हैं, ठेठ या ठूँठ आलोचक की तरह पूर्वाग्रही नहीं । उन्हें पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी से जोड़कर देखना उनकी मेधा का अनादर करना है । उनके विमर्श की शब्दावली सब समय कोमलकान्त पदावली नहीं रहती । उनके व्यंग्य में जो नुकीलापन है, तेजस्विता है वह अहम्मन्य की चूलें हिलाकर रख देनेवाला है । इसमें साहस अज्ञानजन्य नहीं है, इससे रवीन्द्रनाथ से प्रतिसंवाद रोचक है, कालिदास की कला के प्रति लेखक की हर साँस से सजग रहने के बावजूद कबीर की मुद्रा जगह-जगह आकर्षक है ।

22, रीडर्स क्वाटर्स
विश्वविद्यालय परिसर, मुजफ्फरपुर-842001

–रेवतीरमण

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

(जन्म : माघ, शुक्ल, द्वितीया, सम्वत् 1973)

साहित्य-सर्जना

काव्य

1. रूप-अरूप, 2. तीर-तरंग, 3. शिप्रा, 4. मेघगीत, 5. अवन्तिका, 6. संगम, 7. उत्पलदल, 8. आधुनिक कवि (भाग-14), 9. बाललता, 10. धूपतरी, 11. श्यामा संगीत, 12. सुने कौन नग्मा, 13. राधा (सात खण्ड : प्रणय पर्व, पुरुषार्थ पर्व, दर्शन पर्व, विनोद पर्व, निर्वेद पर्व, प्रभास पर्व एवं उत्सर्ग पर्व), 14. उत्तम पुरुष (एक सौ एक रचनाओं का चयन)

गीति-नाट्य

15. पाषाणी, 16. तमसा, 17. इरावती

उपन्यास

18. एक किरण : सौ झाइयाँ, 19. दो तिनकों का घोंसला, 20. कालिदास

कहानी

21. कानन, 22. अपर्णा, 23. लीला-कमल, 24. बाँसों का झुरमुट

कथा-काव्य

25. गाथा

नाटक

26. अशोक वन, 27. सत्यकाम, 28. जिन्दगी, 29. आदमी, 30. प्रतिध्वनि, 31. देवी, 32. नील-झील

ललित निबन्ध

33. मन की बात, 34. जो न बिक सकी

संस्मरण-आत्मकथा

35. स्मृति के वातायन, 36. निराला के पत्र, 37. नाट्य सम्राट : पृथ्वीराज कपूर, 38. हंस बलाका, 39. कर्मक्षेत्रे : मरुक्षेत्रे, 40. एक असाहित्यिक की डायरी, 40. अष्टपदी

समीक्षा

42. साहित्य-दर्शन, 43. चिन्ताधारा, 44. प्राच्य-साहित्य 45. अनकहा निराला, 46. महाकवि निराला (सम्पादित), 47. मानस चिंतन (संपादित)

सम्पर्क : 'निराला निकेतन', आचार्य जानकीवल्लभ **शास्त्री** पथ
मुजफ्फरपुर (बिहार) - 842001, दूरभाष : 0621 - 2286466

आधुनिक हिन्दी–साहित्य के समादृत कवि, कथाकार एवं आलोचक

(‘समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्य्येण हिमवानिव’)

स्व० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा

को

समर्पित

अनुक्रम

त्रयी	:	11
	•	
प्रसाद का काव्य	:	23
काव्य और कला	:	32
निराला की कविता	:	46
भक्त कवि निराला	:	66
युग-प्रवर्तन के क्रम में	:	92
आधुनिक कवि पंत	:	125
छायावाद : पुनर्मूल्यांकन	:	141
सत्यं, शिवं, सुन्दरम्	:	158

त्रयी

(1)

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में पन्त, प्रसाद, निराला के अमर नाम ज्योति के पत्र पर लिखे हुए हैं । ये नाम शेक्सपियर, गेटे या टैगोर की कोटि के हैं, जिन्हें निकाल देने पर अंग्रेजी, जर्मन या बंगला की तरह ही नई हिन्दी में भी ऐसा कुछ न रह जायगा, जो कभी पुराना न पड़े; जो प्रत्येक नए के लिए किसी-न-किसी रूप में प्रेरणा का स्रोत बना रहे ।

छायावादी कहकर इनकी उपेक्षा करनेवाले आज बड़े-बड़े वादों के नाम पर छोटे-छोटे खेमों में बँट गए हैं । उनकी भाग-दौड़ की उतावली में विश्व-साहित्य का अंजर-पंजर ढीला हो गया है; उनके आपाधापी के शोरगुल ने काव्य के क्षेत्र से माधुर्य्य को सदा के लिए निर्वासित कर ओज (प्रसाद को भी कदाचित् कवि प्रसाद के नामगन्धी होने के कारण धक्का देकर निकाल दिया है ।) को जैसे एक नई अर्थवत्ता प्रदान की है; और इस उखाड़-पछाड़ ने गड़बड़ी और अव्यवस्था फैलाने के क्रम में छायावादी धुन्ध को कुछ यों छाँट दिया है कि अब सबकी जायज-नाजायज कोशिशें बेनकाब हो गई हैं; गले की सफाई में कुतर्क खखारने की जरूरत ही नहीं रह गई है ।

है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नही–क्या सार है !
निरपराधों के लिए भी तो अहा
हो गया संसार कारागार है !

–पन्त

छायावाद ने खुरदुरी नई हिन्दी को शाश्वत सौन्दर्य्य की कविता दी है । ये बहुरंगी बादल नहीं, जिन्हें कोई बाद की हवा उड़ा ले जायगी, यह गहन नभ की अनन्त नीलिमा है :

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;

आज सोने का सन्ध्याकाल,
जल रहा जतु-गृह-सा विकराल !
–पन्त

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ-उठ कर ऊपर;
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर !
–पन्त

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान !
–पन्त

यहीं विन्दु में सिन्धु सिमटा है; इसी सुर में संगीत का सारा वैभव पिन्हा है; इसी मुकुल में अनन्त वसन्त बस गया है ।

क्या द्विवेदी-युग के कवि भाव-भाषा की इस इड़ा-पिंगला अन्विति का स्वप्न भी देख सके थे ? प्रांजल गद्य में थोड़ी-सी सानुनासिक नीतिमत्ता ठूँस देने से सपाट पद्य बन जाता था :

''बुध नहीं पहले अरि मारते–
लगुड़ से, गुड़ से यदि कार्य हो !''

x x x

''ले डूबता है एक पापी नाव को मझधार में !''

कविता की प्रकृत दिशा, किन्तु, इससे भिन्न है; उसका लहजा दूसरा है; उसके पद-क्षेप में दूसरी लय है; उसके दृक्पात में दूसरी ज्योति-ज्योत्स्ना है ।

कविता कुछ उल्टे-सीधे विचारों के प्रचार का मंच नहीं है; प्रवचन पिलाने की व्यास-गद्दी नहीं है; व्यक्ति या समाज का स्वास्थ्य बढ़ानेवाला कोई राजकीय-सम्मान-प्राप्त टॉनिक भी नहीं है ।

यद्यपि अपने आपमें वह सब कुछ है । सूर्य्योदय प्रकाश का प्रचार नहीं करता; किन्तु सूर्य्योदय से प्रकाश प्रचारित होता है । प्रात-वात 'छवि-मधु-सुरभि लुटाता है, किसी को उसमें जीवन-स्वन सुनाई दे या वह किसी के लिए

प्राणौषधि ही बन जाए तो यह अपनी-अपनी अपेक्षा में हानि-लाभ, जीवन-मरण की बात हुई, इसे प्रकाश और हवा का पूर्व-नियोजित प्रयास नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

सूर-सागर एक स्वस्थ हृदय का सहज आँनन्दोच्छ्वास है, उसके पारायण से आनन्द के साथ-साथ किसी को स्वास्थ्य का भी लाभ हो तो इसमें हानि क्या है ? सुस्पष्ट शब्दों में सौन्दर्य्य कल्याण-विरोधी नहीं है, बल्कि-

'अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान'-है ।

सत्य-शिव-सुन्दर को परस्पर अनुस्यूत देखना ही समग्र दर्शन है :

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक-सेवा में शिव अविकार !'

जैसे सत्त्व, रज, तम की पारस्परिक सम्बद्धता सहजता कही जा सकती है, वैसे ही सत्य, शिव, सुन्दर की अन्विति को समग्रता कहना उचित होगा ।

श्री अरविन्द-जैसे 'कविर्मनीषी' ने जहाँ कला और कविता की आत्मा एवं उद्‌गम के रूप में सौन्दर्य तथा आनन्द को मान्यता दी है : Beauty and delight are also the very soul and origin of art and poetry.

अथवा

Art is discovery and revelation of beauty. The aim of art is to embody beauty and to give delight.

वहाँ शिव-तत्त्व की उपेक्षा नहीं है । उपयोगिता से ऊपर उठने का अर्थ निरुद्देश्य, निरुपयोगी होना नहीं हो सकता । शब्दों की सहायता के बिना भी संगीत-कला स्वर-किरण-कल्लोलों में केलि करती दिखती है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि स्वर स्वयं शब्द का विलोम है । शिवतत्त्व पर अधिक बल देने से रामचरित-मानस-जैसा काव्य-गुण-मण्डित लोक-कल्याण-कारी धर्म-ग्रन्थ बन जाता है, ऐसे मानवीय संवेदनाओं का कोई (सूर) सागर नहीं लहराता । आकाश (आदर्श) वासी होने के कारण मानस की ऊँचाई दूर से ही दिखाई देने लगती है, सागर में सौन्दर्य्य की जिस निस्तल गहराई से आनन्द ज्वार आता है, वह अशिव, अशुभ से असावधान नहीं होती, क्योंकि सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया रज और तम का रूपान्तरण भर है । अकेला सत्त्व सृष्टि के सर्वविध सौन्दर्य्य की रक्षा करता है । जब तक आनन्द रहेगा, सृष्टि (सौन्दर्य्य) बनी रहेगी ।

अशुभ आनन्ददायक नहीं होता।

सच तो यह है कि शिवत्व का आग्रह–नैतिक, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक रूप में–सौन्दर्य्य-सृष्टि के लिए अवांछनीय है। सुन्दर तो सर्वोपरि है। अनैतिक कहीं सुन्दर हुआ है!

पन्त ने सायास यह नई शैली नहीं सिरजी, उनके गहरे, किन्तु सहज सौन्दर्य्य-बोध ने जिस रूप-रंग में अपने को अभिव्यक्त किया; जिस स्वर-लय में अपनी साँसें पिरोईं, उसी ने वाणी की वीणा में यह दूर-दूर तक गूँजनेवाली नील झंकार उठाई है :

'दूर उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई 'नील झंकार !'

पल्लव के प्रवेश में पन्त ने एक बात बताई है : "जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हल्का तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।"

मैं समझता हूँ, पन्त के अन्तर्भावों को न समझनेवाले बड़ी चुवाने से पहले बड़े बनाकर बड़े बनने लगे और कोमल, करुण, सरस, प्रांजल के प्रस्ताव से बिदके-से उन्हीं की कविता पर रोड़े-पत्थर बरसाने लगे; और अपने सानुनासिक को कोमल, मगरमच्छी टेसुए को करुण, गलाफाड़ बकवास को सरस और सतही सपाट को प्रांजल मानने लगे।

'मज्जन-फल पेखिय तत्काला,
काक होहिं पिक, बकहु मराला !'

–इसी को तो कहते हैं!

ऐसे ही मुर्दों में जान डालने की जगह जीवन्त प्राणों में करुणा और कोमलता के सन्धानी से कोई पूछ देखे–'क्यों इन्हीं भावों तक फैली आपकी दृष्टि ?' यह आत्मगत सौन्दर्य्यबोध ही तो है, जो निरे सन्तुलन या संगति जैसी वस्तु-स्थूलता में नहीं विलीन हो जाता। सन्तुलन की सीमा और संगति का औचित्य जिस रुचि से नियन्त्रित हो, उसे आत्मगत नहीं तो और क्या मानेंगे ? क्यों किसी को शब्द का कोई विशिष्ट स्वर भाता है ? क्यों किसी को अर्थ की अन्विति संश्लिष्ट रूप में अच्छी लगती है ? क्यों किसी को सम्पृक्त आधार (Objective Correlative) से आविर्भूत भावों की एकाग्र अभिव्यक्ति ही प्यारी लगती है ?

कालिदास ने सौन्दर्य्य को कभी रूपनिष्ठ और कभी भावनिष्ठ माना है।

ध्यान देने पर सर्वत्र भावनिष्ठता की ही झलक मिलती है। वह जिसे सौन्दर्य्य कहते हैं, उसे ही सब नहीं कहते। कोई मीनकेतन का आखेट चेतन-अचेतन का अन्तर न समझे (कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु); किन्तु स्वस्थ, प्रकृतिस्थ का तो हिसाब-किताब कुछ दूसरा ही है :

जड़-चेतन, गुण-दोष मय
विश्व कीन्ह करतार,
सन्त हंस गुण गहहिं पय
परिहरि वारि-विकार !

अस्तु, पन्त का सौन्दर्य्यबोध आधुनिक कविता का व्यापक भाव-बोध बन गया : नक्षत्र अनन्य छवि का समुदय हो गया; स्तब्ध विश्व का अपलक विस्मय बनकर अश्रु-हास से अनिमेष हृदय में बदल गया।

सलिल की लोल हिलोर अकूल की उज्ज्वल हँसी, अतल की पुलकित साँस, महानन्द की मधुर उमंग और चिर शाश्वत की चपल लास्य-लीला में विराट हो गई।

अदना-सी परछाईं जहाँ कवियों की कल्पना के समान गूढ़-गम्भीर ऋषियों के हृदय की भाँति निस्तल गहराई लिए हुए दिखने लगी, वहीं वह बच्चों की निर्दोष विभीषिका और अज्ञात भावों-भरी भाषा भी बनी और कभी लालच-सी लम्बी और कभी तृप्ति-सी भरी-भरी–गावदी-जैसी जान पड़ने लगी।

ऐसे ही, बादल बादल न रहे–सीपिया पंख फैलाए परियों के बच्चों-जैसे चाँद के करों के सहारे चाँदनी में तैरने लगे।

धीरे-धीरे संशय की तरह उठे और फिर अपयश की तरह इस ओर से उस छोर तक छा गए; आकाश के हृदय में मोह की तरह उमड़े और साँझ-सकारे लालसा की तरह फैलने लगे।

पन्त ने आधुनिक कविता को सबसे कोमल, मधुर और ऋजु कल्पनाएँ दीं; हीगेल ने जो उपमा और रूपक के अधबीच में बिम्ब को खड़ा किया है, पन्त में उसकी सार्थकता देखने ही योग्य है। ये बिम्ब पन्त की मनोरचना को भलीभाँति प्रकाशित करते हैं।

बिम्बों को हम पूर्वानुभूति की अनुकृति मात्र नहीं मानते, क्योंकि वे रचनात्मक प्रकृति के होते हैं। इस रचनाशीलता में वैयक्तिक अभिरुचि भी मिली हुई होती है।

भावभूमि में भगदड़ मचानेवाले पद्यकार शब्दों को जो औघट घाट तक

सरपट दौड़ाने में कमाल हासिल किए हुए होते हैं, उन्हें यह बिम्ब-विधान भाषा को जटिल बनाने की दिशा में एक दुरभिसन्धि-सा प्रतीत होता है । किन्तु आधुनिक हिन्दी-कविता को समर्थ बनाने में निराला और पन्त के चाक्षुष, श्रावण अथवा घ्राण-स्पर्श-जन्य एवं चक्रनेमि के समान गतिवाले बिम्बों के प्रथम प्रयोग कैसे भी कर्मयोगी कवि या आदर्शवादी आलोचक को चमत्कृत करनेवाले रहे हैं ।

पन्त में चाक्षुष बिम्बों की प्रचुरता है, निराला में नाद-बिम्बों की ।–यों रंग-गन्ध-स्पर्श-बिम्बों का भी निराला के समान सप्राण प्रयोक्ता उनके युग तक दूसरा कोई न था । मैं नहीं जानता कि–

> "नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
> नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
> नव नभ के नव विहग-वृन्द को–
> नव पर, नव स्वर दे !"

x x x

> "लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर–
> बही पवन बन्द, मन्द, मन्दतर !"

x x x

> "बादल गरजो !
> घेर-घेर घोर गगन
> धाराधर ओ !"

x x x

> "प्रथम चकित चुम्बन-सी सिहर समीर,
> कँपा त्रस्त अम्बर के छोर,
> उठा लाज की सरस हिलोर,

x x x

> प्रथम सुरभि में भर उन्माद विकास
> अभी-अभी आई थी मेरे पास !"

x x x

> "अलसता की-सी लता
> किन्तु कोमलता की वह कली,
> सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
> छाँह-सी अम्बर-पथ से चली !"

x x x

"जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पंख विहग-से,
सो गया सुरा-स्वर–
प्रिया के मौन अधरों में
क्षुब्ध एक कम्पन-सा
निद्रित सरोवर में !"

x x x

"मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर-से-चुम्बन गगन के !"

x x x

"सत-श्री-अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल–
तीनों गुण–ताप - त्रय,
अभय हो गए थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत - सन्तान ! तीव्र
भेद कर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्त्रार !
जागो फिर एक बार !"

–ऐसे शत-शत बिम्बों और अनुबिम्बों से गुम्फित, व्यञ्जक एवं ऊर्जामयी काव्य-भाषा की सृष्टि पहले किसने की थी ! कम से कम द्विवेदी-युग के 'कविता-कलाप' के कवि तो लड़खड़ाती हुई हिन्दी को खड़ी करने में ही अपनी सामर्थ्य थका चुके थे; नीति निर्धारित करते-करते अनुभूति से हाथ धो बैठे थे । कहना न होगा, काव्य-कला में वह स्थूल स्थापत्य का काल था ।

पन्त, प्रसाद, निराला ने ही मूर्ति, चित्र और संगीत कलाओं के अभिनिवेश से आधुनिक काव्य-कला के नए आयामों का सर्वप्रथम उद्घाटन किया । अल्पायु प्रगतिवाद का पाठ और प्रवचन समाप्त होने के बाद शमशेर और अज्ञेय के नेतृत्व में पुन: काव्यकला में नित नए प्रयोग होने लगे । स्वतन्त्र रूप से यह क्रम अब भी जारी है । किन्तु जैसा कि शमशेर ने 'नया साहित्य' में 'तार

सप्तक' की आलोचना करते हुए लिखा था, एक अकेले निराला बहुत पहले और ऐसे जाने कितने प्रयोग कर चुके हैं जिनसे आधुनिक हिन्दी कविता परवान चढ़ी है; मेरा अपना मन्तव्य इसी निष्कर्ष में गतार्थ हो जाता है ।

यहाँ मैंने शमशेर के शब्द नहीं दुहराए हैं । वर्षों बाद थकी हुई स्मृति को छेड़ना उचित भी नहीं । किन्तु मैं William Cullen Bryant के ये शब्द नहीं भूला हूँ जो बहुत कुछ–

'कि आती है उर्दू जुबाँ आते-आते !' से मिलते-जुलते हैं :

The art of poetry is not perfected in a day. It is brought to excellence, by slow degrees, from the first rude and imperfect attempts at versification to the finished productions of its greatest masters.

The gorgeousness of poetic imagery, the Curions felicities of poetic language, the music of poetic numbers, the spells of words that act like magic on the heart, are not created by one poet in any language in any Country.

पन्त-प्रसाद-निराला की सामूहिक सामर्थ्य ने हिन्दी-कविता में युगान्तर उपस्थित किया, यही सत्य वचन है । पन्त ने माधुर्य्य की धारा बहाई; निराला ने ओज और तेज की मशाल जलाई; प्रसाद ने करुणा कलित आनन्द उमड़ाया । फिर क्या, काव्यात्मक बिम्ब-विधान समृद्ध हो उठा; काव्यात्मक छन्द स्वच्छन्द संगीत छेड़ बैठे; काव्यात्मक शब्दों का सम्मोहन सहृदयों के हृदय पर जादुई असर दिखाने लगा ।

पन्त ने ठीक ही लिखा है :–

''तू ने ही पहले बहुदर्शिनि
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का नभचारिणि,
गूँथ दिया ताना-बाना !''

(2)

व्यक्तिगत जीवन में मुझे पन्त, प्रसाद, निराला के कृपापात्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । पन्त ने जब पहली बार देखा था, डाक्टर प्रभाकर माचवे के याद दिलाने पर भी यही कहा था : मैं इनसे मिल चुका हूँ ।

प्रसाद से निराला ने मिलाया था । और, निराला से भावी ने । मैं आज जो हूँ, निराला के कारण ।

अवश्य कृपा-पात्र होने का अर्थ अभिज्ञ होना नहीं है । मैं तो जैसे उस

अच्छोद सरोवर का एक मेढ़क हूँ, जो किसी कमल की सद्यो-विकसित पंखड़ियों को हिला-झुलाकर भी उसके रूप-रस-गन्ध से असम्पृक्त ही रहता है और जिसके लिए दूर-सुदूर से रसज्ञ मधुपों की मण्डली, प्रात-पवन के सौरभ-सन्देश की प्रतीक्षा किए बिना ही, गुनगुनाती चली आती है ।

'त्रयी' के तीन समुद्रों के किनारे बैठ-बैठकर मैं लहरें ही गिनता रहा हूँ । मेरे साक्षात् एवं परम्परित ज्ञान की अभिव्यक्ति में कदाचित ही कहीं उनकी उतराई हुई गहराइयों का आभास मिले । फिर भी मैं यहाँ यह कहना चाहूँगा कि ये किनारे मेरी रुचि के बिचरने के सबसे निभृत-निर्भय स्थल हैं । यहाँ मेरी वृत्तियाँ रमती हैं; मुझे सुख मिलता है ।

साहित्य-साधकों में मैं उसे ही महान् मानता हूँ, जिसमें समन्वित रूप में त्रिविध शक्तियाँ जागरित हों—जिसका तन मन से प्रेरित होता हो और मन आत्मा से, जिसका कर्म इच्छा से संयोजित हो और इच्छा ज्ञान से नियोजित; जिसकी भौतिकता दार्शनिकता से संघटित हो और दार्शनिकता आध्यात्मिकता से प्रस्फुटित; जिसकी भावना कल्पना से आवेष्टित हो और कल्पना अनुभूति से मर्यादित; जिसका सत्य शिव से आच्छादित हो और शिव सुन्दर से संचालित । चेतना के इन तीन स्तरों पर अनिरुद्ध संचरण के कारण ही मेरी दृष्टि में उक्त त्रयी का महत्त्व है । अनात्म साहित्य क्षणिक स्फुरण मात्र है, उसमें धकियाकर या कतराकर निकल जाने की शक्ति हो भी, बने रहने का तत्त्व नहीं होता ।

तभी जरा-जरा-सी बातों के लिए आसमान सिर पर उठा लेनेवाले या कि आसमान में छेद करनेवाले कवि 'कामायनी' से श्रेष्ठ काव्य न लिख सके । ठीकरी चुनते-चुनते नाक पर पहिया फिर जाए, प्रसाद से लड़कर कोई अपना हौसला नहीं निकाल सकता ।

कुल मिलाकर पन्त, प्रसाद, निराला की कोटि का कोई कवि नजर नहीं आया । कमर कसकर, होड़ बदकर कविता का कबाड़खाना खोला जा सकता है, 'कामायनी' और 'राम की शक्तिपूजा' का कोई कारखाना नहीं होता ।

पन्त के प्रकृति-सम्बन्धी गीत-प्रगीत अपने उपमान आप हैं । सौन्दर्य्य-स्रष्टा कवि-कलाकार की सर्वोच्च साधना वहीं देखने को मिलती है । युगवाणी-के-से गीत-गद्य में भी 'झंझा में नीम' और 'दो मित्र' जैसे चिरस्थायी प्रकृति-चित्र महाकवि पन्त के प्रकृत रूप के परिचायक हैं । पन्त ने क्या नहीं लिखा; किन्तु उन-सा प्रकृति-चितेरा आधुनिक हिन्दी-कविता में और कोई नहीं ।

कुछ इन्हीं मान्यताओं ने समय-समय पर 'त्रयी' के निबन्धों में प्रकाश पाया है । ये निबन्ध वयस में पर्याप्त छोटे-बड़े हें और इनकी आविर्भावक

मन:स्थितियाँ, इस संकलित प्रकाश में, अपनी आँकी-बाँकी परछाइयों से, कुछ अधिक स्पष्ट संकेत दे रही है । मैं नहीं जानता, इस 'यात-याम, वीत-रस' का अब क्या मूल्य होगा ? कभी लिखा था, अब प्रकाशित देखकर अधिक से अधिक निजी प्रसन्नता का ही दावा किया जा सकता है । जब धुन की नई लौ उठेगी, तब पौ फटेगी ।

वेंकट माधव ने (ऋग्वेद की टीका में) लिखा है कि शाकल्य, पाणिनि और यास्क–तीनों का प्रयास ऋग्वेद की व्याख्या का रहा, पर इनके किए भी ठीक-ठीक अर्थ न हो पाया ।

मल्लिनाथ ने भी कालिदास के लिए लगभग इसी से मिलता-जुलता अपना मन्तव्य प्रकट किया है कि कालिदास की कविता का मर्म कालिदास समझ सकते हैं; सरस्वती समझ सकती हैं, वेदों के प्रवक्ता ब्रह्मा समझ सकते हैं, अगर समझ सकते हैं, मुझ-जैसे अनाड़ी तो हर्गिज नहीं ।

याद रहे, मल्लिनाथ से बड़ा विद्वान् कोई बिरला ही होगा, जिन्होंने अपने आपको कालिदास के मामले में अनाड़ी बताया है । कृकलास-पंथी को ऐसा पपड़ीला पपैया शायद ही सुस्वादु लगे ! लगे तो गालिब को–

"यारब व न समझे हैं
न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको,
न दे गर मुझको जुबां और !"

न लिखना पड़े; निराला को–

'हूँ दूर, सदा मैं दूर'

–की घोषणा न करनी पड़े ।

हिन्दी में सब चलता है । टैगोर की अस्सी वर्षों की सतत साधना साहित्य पर महज सौ-दो-सौ पृष्ठ चिन्तन और विभूति के दे सकती है; किन्तु अर्थ, राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र, भौतिकी और रसायन के विद्वान् भी हिन्दी में साहित्य, संगीत, कला पर प्रतिवर्ष हजार-दो-हजार पृष्ठ प्रकाशित कराने का पराक्रम दिखलाते देखे जा सकते हैं ।

'खात निबौरी, दाख बतावें' की उक्ति उन पर नहीं लागू होती । जो निराला की एक कविता भी नहीं समझते, वह उन पर हजार पृष्ठों की पुस्तक छपाए बैठे हैं । जिन्हें नई-पुरानी कोई भी बँगला नहीं आती, टैगोर के विरुद्ध वह प्रवचन पिलाते थकते ही नहीं ।

मेरे इन अवैज्ञानिक, अराजनीतिक लेखों में भी महज जबानी जमा-खर्च

से ही काम चलाया गया है। मैं सात-पाँच नहीं जानता। सीधी और सच्ची बात यह है कि ये लेख जब-तब पत्रिकाओं की फरमाइश पूरी करने के लिए लिखे गए थे, 'तीर नहीं तो तुक्का ही सही' के मूड में। मैंने बहुतेरा सिर मारा होता तो शायद बात कुछ बन जाती, मगर सिर मारने के बजाय मुझे तो जी मारना पड़ा है। आन की आन में हथेली पर सरसों नहीं जमती। ऐसे में जाने क्यों ईट्स की एक पंक्ति याद आती है :

'How can we know the dancer from the dance ?'

यों मेरी मान्यता रही है कि सौन्दर्य्य के आवेष्टन का अतिक्रमण कर कला का मूल्यांकन असम्भव है। अखण्ड सृष्टि के खण्ड रूप का विवेचन F.G. Lucas ने मनोवैज्ञानिक भूमिका में और George Lukacs ने यथार्थवादी वातावरण में किया है। बालजक से गोर्की तक की कृतियों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत्युत्पादक अध्ययन प्रस्तुत किया है Lukacs ने Studies in European Realism में कि बस कुछ न पूछिए। किन्तु मेरा विवेक कहता है कि इससे कला की समग्रता और सर्वांगीणता पर नई किरणों का केन्द्रीकरण ही होता है–स्वयं कला ऐसे मनोवैज्ञानिक परीक्षण और समाजशास्त्रीय निरीक्षण से कहीं ऊँची है। यह ऐसी दूसरी कसौटियों पर भी घिसकर चमकती है।

पलक झपकते वह ऐसी चौखटें लाँघ जाती है, भले कोई उसे आँखों में खाए ही जाता हो।

वस्तुतः सौन्दर्य्य कला का साधन मात्र नहीं, साध्य भी है। अवश्य ऐसा साधन-साध्य का सन्तुलन उच्चतम कोटि की कलाकृतियों में ही उपलब्ध होता है। असन्तुलन की स्थिति में तो गुदड़ी में लाल छिप जाता है; टाट पर रेशम की बखिया दी जाती है।

'त्रयी' के इस दूसरे नए संस्करण के महत्त्वाकांक्षी मूल में कहीं-न-कहीं डा० शिवनन्दन प्रसाद की, प्रथम संस्करण की समीक्षा के रूप में आकाशवाणी से प्रसारित, इस प्रशस्ति का संक्रामक प्रभाव भी अवश्य है :

"कवि-आलोचक समानधर्मा होने के नाते किसी अन्य कवि के व्यक्तित्व की चरम गहराई में प्रवेश कर उसकी मूल अन्तःप्रवृत्तियों का साक्षात् सहज ही कर लेता है। कविश्री जानकीवल्लभ शास्त्री अपने सद्यःप्रकाशित आलोचना-ग्रन्थ–'त्रयी' में ऐसे ही प्राण-द्रष्टा आलोचक के रूप में उपस्थित हुए हैं।

"आलोचक ने अपने अनुरूप ही उदात्त या महिम-विषय चुनकर अपनी आलोचकीय सफलता का मार्ग निष्कटक पाने का उपक्रम किया है। यदि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी सूर, तुलसी और जायसी को अपनी समीक्षा का विषय न

बनाते तो उनकी मर्मज्ञता और पाण्डित्य का सम्यक् उद्‌घाटन शायद ही हो पाता । समान के प्रांत रुचि स्वाभाविक है ।

"त्रयी के अधीत आलोचक ने विवेच्य कवियों की रहस्यमयी वाणी को जो अर्थवत्ता दी है, वह विश्‍वसनीय है । उनके भीतर का आचार्य सतत सजग है जब कि कवि निरन्तर क्रियाशील ।

'त्रयी' में जानकीवल्लभ हमें उस बिन्दु पर स्थित दिखलाई देते हैं, जहाँ कवि और आलोचक का मिलन होता है ।"

कोई खाल में मस्त, कोई माल में मस्त । फिर अपने तईं कौन नहीं खिंचता, जल्दी-जल्दी दोनों हाथों ठूँस लेनेवालों से जो यह बुकटा भर बच गया था, उतना निगलकर मैं अफर कर चलने लगा था कि नकेन के ख्यातिप्राप्त श्री नरेश ने शरबत में घर की खाँड़ मिलाकर पिला दिया :

"त्रयी" के पूर्व भी उनकी आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं । साहित्य दर्शन, चिन्ताधारा, प्राच्य साहित्य–ऐसी पुस्तकों ने जानकीवल्लभ को तो काव्य-मर्मज्ञ सिद्ध किया ही है, यह भी सुस्पष्ट कर दिया है कि श्री जानकीवल्लभ का पाण्डित्य परम्परा और नवीनता के बीच की वह भूली कड़ी है, जिससे हिन्दी-साहित्य को एक अनवरुद्ध परिप्रेक्ष्य मिल जाता है । निस्सन्देह, इस कोटि के आलोचक जानकीवल्लभ लगभग अकेले ही हैं ।"

फिर क्या ? बैठे-बिठाए ऐसी बातों में आ गया और 'त्रयी' का संबर्द्धित संस्करण कर डाला । मुझसे तो हो गई, अब चौकस आलोचकों से कोई भूल न हो, वह मेरी सर्वथा निजी भाववादी समीक्षा-पद्धति को प्रभाववादी सिद्ध कर शुक्ल-सन्तोष की साँस लें । मैं भी परदेशी प्रभाव के डर से स्वदेशी स्वभाव कैसे छोड़ूँ ?

"भौंर न छाँड़े केतकी, तीखे कण्टक जान !"

निराला निकेतन,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

–जानकीवल्लभ शास्त्री

प्रसाद का काव्य

जीवन की, समग्रता में उपलब्धि प्रसाद के काव्य की विशेषता है । जैसे भरी गागर नहीं छलकती वैसे ही पूर्ण वाणी में उत्तेजना नहीं होती । वहाँ ईर्ष्या की भक्ति में, घृणा की श्रद्धा में और क्रोध की शान्ति में परिणति हो जाती है ।

यह ठीक है कि केवल अनुकूल भाव जीवन में गति नहीं उत्पन्न करते; उसे शक्त तथा वैचित्र्यपूर्ण नहीं बनाते हैं, अत: प्रतिकूल भावों के घात-प्रतिघात के बिना काव्य में भी गति, दीप्ति तथा विविधता नहीं आ सकती; किन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि इच्छा और क्रिया के द्वन्द्व को विश्राम-धाम पर पहुँचाए बिना, शान्ति-सुधा का पान कराए बिना कवि-कर्म किसी भी प्रकार सहृदय-परिणति नहीं प्राप्त कर सकता । गति को आनन्द-कानन की हरित-श्याम छाया में विराम मिलना चाहिए; विप्लव-विक्षोभ की शक्त दीप्ति को चाँदनी की धुली हुई तृप्ति ।

आधुनिक कविता लहरों पर तैरती है, वह 'आपूर्य्यमाण, अचल-प्रतिष्ठ' समुद्र की महिमा नहीं स्वीकारती । परिणाम स्पष्ट है, उसकी शक्ति और सुन्दरता–दोनों वाचिक हैं; ऊपर ही ऊपर छलकती चलती हैं ।

अन्तर्द्वन्द्वों एवं अन्तर्विरोधों का उद्‌घाटन महत् काव्य का प्रमुख प्रयोजन नहीं है, उनकी अन्विति से प्रवाहित होनेवाले सौन्दर्य्य-स्रोत से जगत् को आप्यायित करना ही कदाचित् उसका चरम ध्येय है ।

हिन्दी में अभी तक भाषा की सरलता-क्लिष्टता को लेकर विवाद हुआ करता है; काव्य में घृणामूलक, नकारात्मक विचार-विक्षोभ को ओजस्वी बतलाया जाता है, ऐसे में प्रसाद का काव्य इससे अधिक क्या कह सकता है कि–

'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसाद विषाद, विश्राम और वैराग्य के कवि हैं । वह तो वासना और वैराग्य में समन्वय के, जीवन की सम्पूर्णता के,

विराट् के स्रष्टा हैं । आशा हो या निराशा, हर्ष हो या विषाद–जीवन की सम्पूर्णता में वह उसे व्यक्त करते हैं; भोग और त्याग को जीवन-सरिता के दो कूलों की भाँति वह पृथक्-पृथक् नहीं प्रतिष्ठापित करते, प्रत्युत प्राणों की ऊष्मा को–मध्यदिन के तपन-ताप को, स्वत: सन्ध्या की नील-लोहित झाँई-सी आत्मा की शान्त-सौम्य अनन्तता में तदाकार कर देते हैं ।

यह समन्वय ऐसा सहज होता है जैसे क्रम-क्रम से पथ पार करता हुआ कोई पंथी एक निश्चित लक्ष्य पर पहुँच गया हो !

अभिव्यक्ति की विविधता कला-पक्ष में भी एकरसता नहीं आने देती । वस्तुत: समरसता में एकरसता की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि समरसता उषा-सी प्रत्येक उदय-काल में नवीन है । आत्मा की प्रत्येक विवृति नित्य-नूतन हुआ करती है । एकपक्षीय अतिरंजना के आग्रही जन चतुरस्र मर्यादा का निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं करते; उनकी दृष्टि में प्रखर प्रवाह लक्ष्यहीन होकर भी काव्य का सर्वस्व हो सकता है । किन्तु जीवन के व्यक्त मध्य पर उसका दर्शन कदापि केन्द्रित नहीं हो सकता जो अव्यक्त आदि और अव्यक्त अन्त का भी चिन्तक है उसकी अव्यक्त की संकेतात्मक अभिव्यक्ति 'रहस्य' की आख्या ग्रहण कर लेती है, जब भी उसका इष्ट जीवन का वृहत्तर या सम्पूर्ण दर्शन मात्र होता है । प्रसाद का काव्य ऐसा ही है ।

आँसू, लहर और कामायनी प्रसाद के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं, प्राथमिक प्रयास से उनके निश्चित भविष्य का यत्किञ्चित् ही आभास मिलता है । वह सहसा सप्तम सोपान पर नहीं पहुँच गए; प्रत्येक सोपान पर उनके पदक्षेप के चिह्न देखे जा सकते हैं ! इन चिह्नों के निरखने-परखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास–इन त्रिविध उपादानों से उनकी काव्य-सृष्टि क्रमश: स्वस्थ-सबल हुई, वह निराला के समान जन्मजात महाकवि नहीं थे । 'जुही की कली' की भाँति काव्य-प्रतिभा की प्रथम प्रसन्न प्रभा प्रसाद के प्राथमिक प्रयास में कहीं नहीं दीखती ।

प्रसाद का जीवन-दर्शन शास्त्रीय ज्ञान के आलोक में ही इतना स्पष्ट और पुष्ट है । परम्परा के अनुशीलन से उनकी (वैयक्तिक) प्रतिभा निखरी थी । सांस्कृतिक ऐश्वर्य के विविध रूपों–धर्म, दर्शन, कला आदि–की गहरी अभिज्ञता से उनका साहित्य शीलवान् है । प्रतिभा और परम्परा का ऐसा संयोग विरल होता है जहाँ शास्त्र पर जीवन प्रतिष्ठित होता है; धर्म पर मानवता विजयिनी होती है और शक्ति के अन्तरिक्ष से करुणा-कादम्बिनी बरसती है । जीवन-दर्शन की

स्पष्टता के कारण उनका काव्य एक निश्चित दिशा की ओर प्रवाहित होता है; उसके विविध भावों में एक अनुस्यूति की प्रतीति होती है ।

समन्वय, भक्ति का तत्वचिन्तन से, ज्ञान का विज्ञान से, कामना का कर्म से और 'अहं' का 'इदम्' से–उनकी काव्य-साधना की सिद्धि है । यह ऐसा समन्वय ही उनके काव्य का दर्शन है ।

दर्शन की गहनता कभी-कभी उन्हें काव्य की सीमा का अतिक्रमण करने को विवश करती है और यह सैद्धांतिक समीक्षा करते हुए अपने कवि से दार्शनिक को आगे बढ़ा देते हैं । कामायनी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में यह विभेद सुस्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

कालिदास भी शैव थे; दार्शनिक कवि थे । उनके कुमारसम्भव में भी यह विशेषता है । कुमारसम्भव के प्रथम और द्वितीय सर्ग एक ही स्वर्ण-लेखनी के चमत्कार हैं, सहसा विश्वास नहीं होता । **कामायनी का पूर्वार्द्ध कुमारसम्भव के स्तर का ही है । प्रसाद को 'आधुनिक हिन्दी' का कालिदास कहा जा सकता है ।**

उनकी काव्य-रचना का आरम्भ किस सन्-संवत् में हुआ और किस क्रम से उनके काव्य-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, इसका लेखा-जोखा लेना यहाँ अनावश्यक है । उनके काव्य का आरम्भ सौन्दर्यजनित कुतूहल से हुआ और उसकी परिणति कल्याण-मण्डित आनन्द की उपलब्धि में हुई है । आँसू, लहर और कामायनी का क्रमिक उत्कर्ष इसी स्थापना का समर्थक है ।

'आँसू' 'कामायनी' की पूर्वपीठिका है । 'कामायनी' के प्रबन्ध-विस्तार का बीज उसमें भी धरती फोड़कर ऊपर उठता दिखता है । जिस प्रकार मनु के अतीत सुख की चिन्ता अनन्त में दुख की असंख्य रेखाएँ उगाती है, उसी प्रकार आँसू के कवि का अतीत-चिन्तन भी पीड़ा को घनीभूत करता है । किन्तु जिस प्रकार उस विश्व-वन की व्याली का विष अमृत बनता है–

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे !

x x x

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर, साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था !

उसी प्रकार 'आँसू' की दंशहीन वेदना क्रमशः उन्नीत हो अकुण्ठित करुणा के स्वर से जीवन की पूर्णता को रस-सान्द्र बनाती है–

मानव - जीवन - वेदी पर
परिणय है विरह -मिलन का;
सुख - दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का !

x x x

चेतना - लहर न उठेगी,
जीवन - समुद्र थिर होगा;
सन्ध्या हो सर्ग - प्रलय की
विच्छेद - मिलन फिर होगा !

विरह-मिलन, सुख-दुःख के खण्ड सत्य को अखण्ड आनन्द की यह सहज उपलब्धि प्रसाद के काव्य की देन है । प्रकृति और मानव-प्रकृति का द्वन्द्व दिखलाना और बात है; प्रकृति पर मानव की वाह्य विजय का प्रदर्शन भी वैज्ञानिक सत्य के नाते स्वाभाविक हो सकता है, पर प्रसाद की समरसता तो प्रकृति तथा मानव-प्रकृति का आत्मिक स्तर पर सम्पूर्ण मिलन है; शिव और शक्ति का सामञ्जस्य है जिससे परस्पर के विलयन से–'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।' निराशा से आशा की ओर और फिर आशा से आत्मोपलब्धि की ओर, अखण्ड आनन्द की ओर गत्यात्मक जीवन-साधना का यह ऐसा क्रमिक विकास ही प्रसाद के काव्य में निर्दिष्ट हुआ है ।

पलायनवाद के निदर्शन में अनेकशः उद्धृत–

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे;

x x x

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से–
जहाँ सृजन करते मेला से–
अमर जागरण उषा नयन से–
बिखराती हो ज्योति घनी रे !

ऐसे गीत में भी इसी अखण्डता का संकेत है । 'बीती विभावरी जाग री' की विहाग-रागिनी भैरवी की सजग चेतना में विवर्तित होती है । इसी प्रकार करुणा की नई अँगड़ाई और मलयानिल की परछाई-सी चंचल लहर को वह

केवल लहराने ही नहीं देना चाहते, उसे सार्थक होने के लिए दिशा-निर्देश भी करते हैं लघु-लघु लोल-लहर उठ-उठकर सूखे तट पर छिटके, छहरे ! वह उसके उठने मचलने को कृतार्थ करना चाहते हैं–

तू भूल न री, पंकज-वन में,
जीवन के इस सूनेपन में–
ओ प्यार-पुलक से भरी, ढुलक !
आ, चूम पुलिन के बिरस अधर !!

प्यासे पुलिन को चूमकर लहर उसकी प्यास ही बढ़ाती, पर यहाँ तो विरस को सरस बनाने का अनुरोध है । विरसता और नीरसता एक ही नहीं है । विरस में निर्वेद, विषाद और वैराग्य का भाव है । लहर उसमें आनन्द स्पन्दित करती है । इसे पढ़ते समय पन्तजी के 'वीचि-विलास' की सहसा स्मृति हो आती है–

अरी सलिल की लोल हिलोर
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चंचल दृग कोर,
यह जग को अविदित उल्लास !
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर मधु रोर !

पन्तजी की वीचि में माधुर्य्य है, जिसका उत्स उनकी कोमल कल्पना है; किन्तु प्रसादजी की लहर गम्भीर है, क्योंकि वह अगाध अनुभूति से उठी है । दोनों कविताओं के दर्शन में भी विभेद है । 'नौका-विहार' की भाँति इस 'वीचि-विलास' में भी पन्तजी ने शाश्वतिकता को अभिव्यक्त किया है और प्रसादजी ने अपनी लहर में समन्वय या समग्रता को ।

उनके किसी भी गीत में यह केन्द्रीय भाव पुनः-पुनः परिलक्षित होता है । उनकी भावनाएँ, कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ इसी के गिर्द मँडलाती हैं; इसी सत्य-बिन्दु के सहारे सुनहले वृत्त बनाती हैं–

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है, धरा, सुनो;
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित–
मेरे क्षितिज, उदार बनो ।

पन्तजी 'सन्ध्या-तारा' के लिए कहते हैं–

वह रे अनन्त का मुक्त मीन
अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन
निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम
भेदता जगत जीवन का तम
वह शुद्ध; प्रबुद्ध, शुक्र वह सम ।

अवश्य यह उपलब्धि की वाणी नहीं है । कवि ने उपमा-रूपक की भाषा में स्काइलार्क के सम्बन्ध में शेली के समान, कुछ संवेदनहीन आध्यात्मिक कल्पनाएँ भर की हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के दर्शन की भाँति पन्त का कवित्व प्राञ्जल है । पन्त 'सुन्दर जीवन' के शिल्पी हैं और प्रसाद 'जीवन-मंगल' के स्रष्टा । सत्य और सुन्दर के सहज सामञ्जस्य से मंगल की जीवन में प्रतिष्ठा करना उनका ध्येय था ।

उपलब्धि और अभिज्ञता की वाणी में अन्तर होता है । प्रसाद अभिज्ञ न थे, ऐसा कौन कहेगा ? उनके काव्य में, सांस्कृतिक आवेष्टन के रूप में, दार्शनिक विश्लेषण के रूप में, अभिज्ञता की शतशः पहचान मिलती है । किन्तु, ज्ञान के रूप में प्राप्ति एक बात है और स्वीकृति के रूप में उसकी उपलब्धि दूसरी । प्रसाद ज्ञानी ही नहीं, तन्मय भी थे, उनकी हार्दिकता अभिज्ञता को अभिभूत कर चुकी थी । वह रुचि की ही प्रतीति नहीं कराते, किन्तु उस 'शिवम्' को वाणी देते हैं, जिसका उनके साथ निविड़ सम्बन्ध था; जो उनके सन्तुलित व्यक्तित्व तथा विशुद्ध विवेक का केन्द्र-बिन्दु बन चुका था और उनके लिए सर्वथा अपरिहार्य्य था । 'कामायनी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

तर्क के द्वारा हम जिसकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारी अनुभूति नहीं के बराबर होती है । वेदों और उपनिषदों में जो आनन्द प्रकाशित हुआ है उसका आधार प्रत्यय है; तर्क नहीं । आनन्द तर्कातीत है, इसका अर्थ यही हो सकता है कि वह शुद्ध अनुभूति का विषय है । अनुभूति सत्तात्मक हो सकती है; निषेधात्मक कदापि नहीं । कामायनी की 'श्रद्धा' आनन्द की अनुभूति की आस्था है । 'श्रद्धया विन्दतेऽमृतम् ।' 'अमृत' की अनुभूति ही श्रद्धा है ।

'अविद्या' से मृत्यु को पार कर 'विद्या' से अमृतत्व-प्राप्ति की बात

उपनिषद् बताती है, इड़ा अविद्या है और श्रद्धा विद्या, जो आनन्द का साक्षात्कार करती-कराती है ।

वस्तु-विज्ञान कार्य्य-कारण-परम्परा से परे नहीं हो सकता और आत्म-ज्ञान आनन्द को प्रकाश का ठोस धरातल नहीं दे सकता, इस होड़ा-होड़ी में, इस परस्पर निरपेक्षता में, इस तनाव में जीवन को सम्पूर्ण रूप में पाने का कोई उपाय नहीं है । ऐसे में 'यस्तद्वेदोभयं सह' की सम्भावना नहीं है । उपनिषत्काल में जो कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड में समन्वय स्थापित करने का सन्देश था, आज आत्मा और वस्तु में, ज्ञान और विज्ञान में प्रतिद्वन्द्विता छिड़ जाने पर, आवेष्टन बदल जाने पर, उसे कामायनी में नये स्वर से दुहराया गया है । संघर्ष पुराना है, समाधान भी । युग के परिवर्तित वातावरण ने उन (संघर्ष और समाधान) में नवीनता ला दी है ।

आर्य्य-संस्कृति की परम्परा के सहृदय अनुशीलन ने प्रसाद की वाणी को ऐसा मर्य्यादित कर दिया था कि भाव और भाषा की मार-काट के इस युग में भी वह 'समरसता' द्वारा मानवता की विजय का मंगल उद्घोष कर गए । आज जब उत्तेजित, हिंसक और अशान्त स्वर में शान्ति-पाठ किया जाता है; ऐसे कर्कश शब्दों में शान्त रहने के लिए अनुरोध किया जाता है; जिन्हें सुनकर धीर-गम्भीर व्यक्ति भी आपाद-मस्तक जल उठे, तब जीवन को कामना, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से सम्पूर्ण बनाने के लिए प्रसादजी ही उद्बोधित कर सकते थे । व्याख्या के क्रम में हम चाहें तो कह सकते हैं कि समस्त वस्तु-विज्ञान से आक्रान्त यन्त्र-युग का चित्र–

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है,
प्राण दास है क्रिया-तन्त्र का !

–के रूप में प्रसादजी ने प्रस्तुत किया है ! इस यान्त्रिक यन्त्रणा से उन्मुक्ति का उपाय सुख-दुःख से उदासीनता नहीं है । क्रिया-कलाप के साथ इच्छाओं का योग जुटाए बिना जीवन का रस नहीं प्रकाशित हो सकता । अतः इच्छा और क्रिया का समन्वय अभिप्रेत है । इसी प्रकार जीवन-रस से वञ्चित ज्ञान का यह दैन्य–

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद-बूँद वाले निर्झर से

माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर-अमर से ?
x x x
सामञ्जस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं !

–भी प्यास, पीड़ा या असन्तुलन को मेटने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है । इन तीनों की स्वकेन्द्रित अपूर्णता ही वर्तमान विक्षोभ के लिए उत्तरदायी है ।

इस समन्वय साधना का रहस्य कदाचित् यह है कि वर्त्तमान बौद्धिक विभव का पराभव निश्चित है । यह एकांकी विकास को विकलांग ही बनाए रहेगा । विष से विष का शमन या दमन होता रहे, यह नियति को इष्ट नहीं है । इस प्रकार वह अमृत को शब्द-शेष नहीं बनाना चाहती । यदि मानवता को अशेष निराशाओं और बाधाओं के बीच से बचकर आगे बढ़ना है, तो उसकी एक ही दिशा हो सकती है कि जीवन को आनन्द से वंचित न किया जाय और यह आनन्द तब तक उपलब्ध न होगा जब तक हमारी एकांगिता न दूर होगी और हम इस एकांगिता को भी तर्क के द्वारा नहीं दूर कर सकते, इसे आस्था के द्वारा ही दूर कर सकते हैं । यह आस्था इच्छा, कर्म और ज्ञान के ऐक्य की प्रेरणा भी है और परिणति भी ।

वर्ग-युद्ध द्वारा आर्थिक स्वातन्त्र्य की सम्भावना है । किन्तु, इस प्रकार का स्वातन्त्र्य 'स्वराज्य' से कितनी समता रखता है ? आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना जीवन-रस प्राप्त करना नहीं है । टाल्सटाय का साहित्य 'स्वराज्य' का साहित्य है और 'स्टालिन-पुरस्कार-प्राप्त' आधुनिक उपन्यास यान्त्रिक स्वातन्त्र्य या आर्थिक सुविधाओं के साहित्यिक चित्र हैं । जीवन-रस से ओत-प्रोत टाल्सटाय अमर रहेगा और तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के ये चित्र क्रमशः धुँधले पड़ते जायँगे । क्योंकि, इनमें चेतना के उन्नतर स्तर की ओर संकेत नहीं है । यान्त्रिक समता पाकर भी मानवता का ऊर्ध्वमुख विकास सत् से सत् की ओर, और अमृत से अमृत की ओर अग्रसर होने पर ही सम्भव है । इस राग-द्वेषात्मक चेतना के धरातल पर से तो विश्व की विषमता को दूर कर सकना अशक्य ही है । कामायनी मानवता को परिपूर्णता की दृष्टि, विकास का प्रकाश और उपलब्धि की वाणी देती है । युग की भौतिक समस्या को कामायनी के रूप में प्रसाद जी ने एक आध्यात्मिक समाधान दिया है ।

x x x

महत् साहित्य की कसौटी सार्वभौमिकता ही हो सकती है । देश और काल के आवेष्टन के प्रति प्रतिक्रियाओं में से सार्वदेशिक और सार्वकालिक तत्त्वों का आकलन महान् कलाकार ही कर पाता है । हिन्दी में पहले रामचरितमानस के कवि ने किया था, फिर कामायनी के प्रसादजी ने किया । अवश्य यहाँ यह उल्लिखित होना चाहिए कि विशुद्ध कवि की कोटि में न तुलसीदास को रखा जा सकता है और न प्रसाद को । इन दोनों ने काव्य को माध्यम बनाकर भक्ति, दर्शन या अध्यात्म की ही सरस व्याख्या की है ।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ–दोनों ही जीवन-रस के महाकवि हैं, जबकि प्रसाद जीवन के बड़े व्याख्याता । दार्शनिक कवि के रूप में इनका अपना स्थान है ।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ साहित्य की परम्परा में आ गए हैं, प्रसाद आ रहे हैं । यदि प्रसाद कालिदास की अमरता और रवीन्द्रनाथ की लोकप्रियता न प्राप्त कर सकें, तो इसका कारण इनका उन दोनों से अधिक मौलिक होना ही होगा, जैसी मौलिकता श्री अरविन्द में है ।

कामायनी और सावित्री की तुलनात्मक समीक्षा के प्रसंग में इस मौलिकता की व्याख्या मैं फिर करूँगा ।

मार्च '५२

●●●

काव्य और कला

श्री जयशंकर 'प्रसाद' कवि-रूप में विश्व-विख्यात हैं। उनका महापण्डित वाला रूप अलौकिक कवित्व के ऐश्वर्य में कुछ धुँधला पड़ गया है, बस, वैसे ही, जैसे शंकर के मायावाद से नागार्जुन का शून्यवाद।

एक ओर नागार्जुन (१७५ ई०) शून्यवाद की स्थापना के क्रम में उसका महात्म्य बतलाते हैं :

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य, प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः
प्रभवति न तस्य किञ्चित्, न प्रभवति शून्यता यस्य।

कि जो इस शून्य-तत्त्व को समझता है, वह सब कुछ समझ सकता है और जिसकी समझ में यह नहीं आया वह और भी कुछ नहीं समझता।

दूसरी ओर मायावादी दावा करते हैं :

'एकेन विज्ञातेन सर्व विज्ञातं भवति' कि उस 'एक' के जान लेने पर सब कुछ समझ में आ जाता है;

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'

कि उस 'पर+अवर' के देख लेने पर मन की गाँठ खुल जाती है, सारे सन्देह छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं और सारे कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

फिर भी शंकर की बखिया उधेड़नेवालों को यह कहने में कोई संकोच नहीं कि मायावाद शून्यवाद का ही नामान्तर है। और तब क्यों न मैं भी यह कहने का साहस करूँ कि आगम-निगम-निष्णात महापण्डित जयशंकर प्रसाद ही कामायनी के समान एक महान् रहस्यवादी काव्य-ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में प्रकट हुए हैं; कि कामायनी केवल काव्य नहीं, शास्त्र भी है और यह भी कि हिन्दी में कामायनी के अतिरिक्त रामचरितमानस ही ऐसी, काव्य और शास्त्र की समन्वित उपलब्धि का एकमात्र आदर्श निदर्शन है। 'कामायनी' नाम की ध्वनि

में 'रामायण' (रामचरितमानस जनसाधारण में तुलसी-कृत रामायण के नाम से ही प्रसिद्ध है) नाम की दूरागत-सी प्रतिध्वनि भी सुस्पष्ट है ।

मैं जब कहता हूँ; कामायनी केवल काव्य नहीं, शास्त्र भी है तो निस्सन्देह मैं राजशेखर के शास्त्रकवि और काव्य-कवि वाले वर्गीकरणों को ही नहीं दुहराता । जैसे अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरानन्द में बौद्ध धर्म और दर्शन की पद्यबद्ध व्याख्या मात्र नहीं प्रस्तुत की, शास्त्र को काव्य के साँचे में ढालकर कवित्व को एक नया आयाम, एक नया उत्कर्ष दिया है, कामायनी में भी कुछ-कुछ वैसा ही उत्कर्ष देखने को मिलता है–

चल-चक्र वरुण का ज्योति-भरा,
व्याकुल तू क्यों देता फेरी ?

x x x

व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छन्द,
कर्तृत्व सकल बनकर आए नश्वर छाया-सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरन्तर चले ढला !

यह क्या केवल काव्य है ? यदि हाँ तो इसकी कोटि गीता और भागवत की-सी माननी होगी । कहना न होगा, शंकराचार्य्य ने काव्य मानकर गीता पर भाष्य नहीं लिखा और न 'विद्यावतां भागवते परीक्षां–यह उक्ति भागवत को एक क्लिष्ट काव्य समझ कर चल निकली है !

'नलोदय' और 'रामकृष्ण विलोमकाव्य' के लिए कोई सूक्ति नहीं गढ़ी गई और न बच्चन के–

रात-रात भर श्वान भूँकते !
पार नदी के जब ध्वनि जाती,
लौट उधर से प्रतिध्वनि आती;
समझ खड़े समबल प्रतिद्वंदी दे-दे अपने प्राण भूँकते !

–जैसे सहज काव्य-संवेदन के विलोम में कोई उन्हें खड़ा कर अपनी अभिज्ञता प्रकट कर सका !

शास्त्र कह कर मैं कामायनी की दिग्विजयिनी काव्य-गरिमा पर ही बल देना चाहता हूँ, मेरा लक्ष्य उसे सरस-शुष्क शास्त्रीय काव्य की समकक्षता में रखना नहीं है । शास्त्र में काव्य और काव्य में शास्त्रीय अर्थों का गुम्फन

करनेवाले कवि दूसरे प्रकार के होते हैं ।

सन्धि का सन्देश लेकर श्रीकृष्ण दुर्योधन की सभा में जाते और अनादृत होते हैं इस पर भट्ट नारायण भीम से कहलाते हैं :

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटितमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ?

कि अपनी आत्मा में रमण करनेवाले और निर्विकल्प समाधि में ज्ञान के उद्रेक से खुली हुई अँधेरे की गाँठोंवाले ज्ञानी पुरुष जिसे अँधेरे और उजाले के ऊपर बतलाते हैं उस पुराण-पुरुषोत्तम को दुर्योधन-सा मोहान्ध व्यक्ति पहचाने भी तो कैसे ?

इस श्लोक में 'आत्माराम', 'तमोग्रन्थि' 'निर्विकल्प समाधि'–ऐसे योगशास्त्र के शब्दों और अर्थों (A Specialized terminology and a concentrated manner of thought) का सविशेष निवेश किया गया है ।

प्राथमिक कविताओं में भी प्रसाद जी ने दार्शनिक शब्दावली पिरोई थी :

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रही
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था ही रहा
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रहीं ।

–झरना

छोड़ कर जीवन के अतिवाद
मध्य पथ से लो सुगति सुधार
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार !

–लहर

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग - प्रलय की
विच्छेद-मिलन फिर होगा ।

–आँसू

आरम्भ से ही उनकी अनुभूति दार्शनिक स्तर पर सञ्चित हो रही थी जो कामायनी में पूर्णता प्राप्त करती है । किन्तु पूर्णता प्राप्त कर लेने पर काव्य और शास्त्र के सजातीय-विजातीय तत्त्व घुल-मिल कर एकाकार हो गए हैं :

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था !

अब यह विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर मौलिक और रचनात्मक आत्मानुभूति का ही परिणाम है । यही शास्त्र काव्य-समुद्र का तत्त्व हो गया है । अनुभूति श्यामल सजल और शिल्प; सौन्दर्य की ऐसी लघु-लघु लोल लहर, जो करुणा की पहली अँगड़ाई-सी सूखे किनारे पर गीली छवि छिटकाती हो !

२

प्रसाद के महाप्रयाण के पश्चात् उनके काव्य-साहित्य का पारायण कर मैं उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा था । बेशक भिंची हुई मुट्ठी तीखी रोशनी में खुली न थी कि कोई अर्जन को आवर्जना कहकर रेतीली हँसी हँसता : 'द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ।'

इसी बीच रायगढ़ की राजसी आग की ठंडी आँच में सिंकना मेरी अधकचरी जिंदगी को गवारा न हुआ और मैं रातोंरात राजकवि से बनजारा कवि बनकर इलाहाबाद लौट आया था । यहाँ भारती भण्डार के वरिष्ठ व्यवस्थापक पं० वाचस्पति पाठक के घर ठहरा था । एक दिन पाठक जी ने प्रसाद जी के निबन्ध-संग्रह (जो 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से कोई चार-छह महीनों बाद, सन् '३९ में प्रकाशित हुआ ।) के कुछ फर्मों का प्रूफ इस अभिप्राय से पढ़ने के लिए दिया कि मैं संस्कृत उद्धरणों को ध्यानपूर्वक देखकर शुद्ध कर दूँ ।

पहले प्रसाद के साथ आलाप-संलाप के क्रम में जो कुछ समझा था, यहाँ उसका सोदाहरण प्रमाण प्रस्तुत था । मेरी आस्था अडिग हो गई : प्रसाद-साहित्य अन्त:प्रज्ञा की स्वत: स्फूर्ति मात्र नहीं, अध्ययन, बोध और आचरण के समीकरण का परिणाम है । प्रसाद कामायनी के ऊर्ध्व शिखर पर अनायास नहीं पहुँचे, प्रत्युत प्रत्येक सोपान पर उनका चरण-चिह्न अंकित है :

'शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक !'

निबन्ध-संग्रह आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ । पहला ही निबन्ध-'काव्य और कला' निकला ।

यद्यपि पश्चिम में सबसे पहले अरस्तू ने काव्य को कला के अन्तर्गत माना था; किन्तु वहाँ भी उन्नीसवीं शताब्दी से ही इस विषय पर विशेष रूप से लिखा-पढ़ा जाने लगा । हिन्दी में यह काम बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ ।

प्राचीन काल में साहित्य और संगीत को कला नहीं, विद्या कहा जाता था । कहते हैं, इसी कारण भर्तृहरि ने 'साहित्य-संगीत-कला-विहीनः' वाली सुप्रसिद्ध सूक्ति में कला से पृथक् साहित्य और संगीत का उल्लेख किया है ।

आचार्य कौटिल्य ने चार विद्याएँ (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) बतलाई थीं, राजशेखर ने (पञ्चमी साहित्यविद्या) साहित्य को पाँचवीं विद्या बतलाते हुए लिखा कि वह चारों विद्याओं का निचोड़ है ।

आधुनिक युग के हर्बर्ट रीड ने 'द आर्ट ऑफ आर्ट क्रिटिसिज्म' नामक निबन्ध का आरम्भ किया है :-

By Art critism in the accepted sense we mean the current criticism of painting, sculpture, architecture and other visual arts. इस श्रेणी में काव्य और संगीत का समावेश न करने से कला के स्वीकृत अर्थ का स्पष्टीकरण-सा हो जाता है । मैं इस ठौर पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मान्यताओं के अनुकूल-प्रतिकूल उद्धरणों का पहाड़ नहीं खड़ा करना चाहता । रास्ते का पहाड़ विचार-प्रवाह को चंक्रमित कर सकता है । मुझे तो यहाँ की यह धारणा दुहरा देनी है कि पच्छिम के विश्लेषणों के जो व्हूह हिन्दी में दिखलाई देते हैं, उन्हें सामूहिक रूप में देव-मन्दिर की प्रतिष्ठा अब भी प्राप्त नहीं हुई है ।

शिवसूत्र (कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया) का, वार्तिककार भास्कराचार्य ने, विश्लेषण करते हुए कहा है :

कला कर्तृत्व-सामर्थ्य किंचिन्मात्रं प्रकीर्तितम्
तादृशं ज्ञान-सामर्थ्यं विद्यातत्त्वमिति स्मृतम् ।

कि विद्या-तत्त्व अलौकिक ज्ञान की क्षमता है और कला-तत्त्व थोड़ी-सी कर्तृत्व की क्षमता । मुझे यही भेद सहृदय-संवेद्य प्रतीत होता है । और सब चिन्तामणि पत्थर फेंककर कौआ उड़ाने-जैसा चमत्कारी आयास मात्र जान पड़ता है ।

'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पकौशलम् ।'

इस क्रम में विष्णुपुराण का यह वचन भी ध्यान देने योग्य है । वही कर्म कर्म है, जो बन्धन में नहीं डालता और वही विद्या विद्या है, जिससे मुक्ति मिलती है, (ईशावास्य भी 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' का ही सन्देश देता है ।) और सारे कर्म तो थका डालनेवाले काम-धन्धे भर हैं और दूसरी विद्याएँ भी शिल्प-कौशल मात्र हैं ।

यहाँ जिस 'टोन' में 'शिल्प-कौशल' की चर्चा की गई है, स्पष्ट है कि विद्या के मुकाबले उसे दोयम दर्जा दिया गया है ।

यजुर्वेद कहता है :

प्रजापतिश्चरति गर्भे
अन्तरजायमानो बहुधाऽभिजायते

कि अनेक रूपों में प्रकाशित होनेवाला वही अजन्मा गर्भ में आता है । वह स्वानुभव-सिद्ध अखण्ड शिव आत्मा है । कला उसके अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने का अन्यतम माध्यम है । अर्थात् कला वह साँचा है, जिसमें ढलकर अधीत एवं आचरित विद्या कामायनी बन जाती है ।

हेगेल ने भी प्रत्यय के दो रूप माने हैं–सुन्दर और सत्य । यही भारतीय दार्शनिकों का प्रेय और श्रेय है । कला के ऊपर धर्म और दर्शन को प्रतिष्ठित करना श्रेय की ओर ऊर्ध्व संकेत मात्र है । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' का और क्या अर्थ हो सकता है ?

ऋग्वेद की यह उदार ऋचा–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु–
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

कि वह अपने तईं एक है किन्तु उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि भी कहते हैं; निश्चय ही कला के क्षेत्र में संकुचित हो जाती है । यहाँ अनुभूतियों की तुलना–'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' की भाँति विविक्त निष्कर्ष पर पहुँचाती है । जैसे मूल रूप में रस के एक होने पर भी श्रृंगार और शान्त को कोई एक न मानेगा; सूर का वात्सल्य तुलसी से गहरा ठहरेगा; विद्या और कला के पृथक्-पृथक् स्वरूप की सुस्पष्ट प्रतीति होगी, वैसे ही विद्या और कला की प्रबुद्ध अन्विति की (आकांक्षित परिणति की) एक काष्ठा-सी

कामायनी है, मनन से यह मान्यता अमान्य नहीं सिद्ध होगी । समन्वय की साधना कामायनी में रामचरितमानस से घटिया कोटि की नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

सामवेद में सोम की प्रशस्ति में एक मन्त्र आता है :

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्नि
ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः
सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ।

कि जैसे गाएँ ढूँढ़ती हुई साँड़ के पास पहुँच जाती हैं; उसी प्रकार सारी बुद्धि-प्रज्ञा-चेतनाएँ मचलकर 'सोम' से जा मिलती हैं जब याज्ञिक ऋक्, यजुष्, सोम और सत्य को धारण करनेवाली ब्रह्मवाणी को प्रेरित करता है । क्योंकि लयमय मधुमती मनीषा सोम तक पहुँचे बिना नहीं रह सकती । अस्तु,

'काव्य और कला' नामक निबन्ध में प्रसाद ने सर्व-प्रथम आलोचना की पाश्चात्य प्रणाली और भारतीय विचारधारा के बेमेल मिश्रण की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है :–

"काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए संभवतः हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अन्तर्गत किया जाने लगा है । यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य्य बोध के सतत अभ्यास से हुआ है । यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि विचारधारा और सौन्दर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्गम है या नहीं ।"

प्रसाद भातीय उद्गम की खोज करते हैं और अपनी परम्परा की एक आँकी-बाँकी लकीर भी खींचते हैं । मैं इस ठौर ठहरना चाहता हूँ ।

'कला' से जो बृहत्तर अर्थ अब समझा जाता है, इस अर्थ में 'यदि विलास-कलासु कुतूहलम्' नहीं लिखा गया था; आज सौन्दर्य और कल्पना का भावात्मक परिवेश वृहत्तर और महत्तर हो चुका है, इन शब्दों को पुराने अर्थों में लपेटना व्यर्थ है । वस्तुतः Beauty, Art और Imagination के पर्याय के रूप में सौन्दर्य, कला और कल्पना का प्रयोग हम अपनी सुविधा के लिए ही करते हैं । परम्परित अर्थ इन शब्दों को इतनी दूर तक बढ़ने की सुविधा नहीं देते ।

जैसे Religion का अर्थ धर्म नहीं है; Philosophy का अर्थ दर्शन नहीं है–अर्थात् धर्म और दर्शन 'रिलीजन और फिलासफी' से और ऊँचे जाते; और गहरे धँसते हैं; किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिए हम उन्हें समानार्थक मानकर चलते हैं, कुछ उसी प्रकार पुराने 'कला' शब्द से उसका नया अर्थ बहुत आगे निकल गया है। (यों संस्कृत व्याकरण में 'कलतिः कामधेनुः' प्रसिद्ध है और हम चाहें तो उसके नए आयामों तक भी दौड़ लगा सकते हैं।) और अब उसके उद्गम की खोज करने से शास्त्रों के गहन वन की यात्रा का ही आनन्द उपलब्ध होगा, उपलब्धि कुछ न होगी। रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति को आनन्दानुभूति कह कर एक बताना वाग्विलास है। रस और सौन्दर्य के ऐसी पञ्चर ठोकने से आनन्द इतना ऊँचा न उड़ेगा कि पच्ची हो जाए।

हीगेल का वर्गीकरण चरम न होने पर भी उल्लेख्य अवश्य है। स्थूल-सूक्ष्म के आधार को निराधार नहीं माना जा सकता। बनते-बिगड़ते वह काव्य की सर्वश्रेष्ठता तक तो पहुँचता ही है। है तो काव्य को सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रक्रिया में अन्तर है परिणाम में नहीं।

स्थापत्य काव्य के शब्दों में निहित है; मूर्ति और चित्र लाक्षणिक और व्यञ्जक अर्थों में–अलंकारों और ध्वनियों के माध्यम से; और संगीत लय-छन्द में भामह ने लिखने के लिए नहीं लिखा। वस्तुतः काव्य के अलावा और दूसरी ऐसी कौन-सी कला हो सकती है, जो इतनी कलाओं को आत्मसात् कर ले!

स्वर-प्रधान संगीत को शब्द-प्रधान काव्य से श्रेष्ठ सिद्ध करने की सनक भी प्रचलित है। ऐसे लोग शब्द को जाने क्यों नाद नहीं मानते? नाद के बिना शब्द कैसे व्यञ्जित होगा और फिर शब्द-गुणक आकाश कहने का क्या अर्थ होगा? संक्षेप में, शब्द नादात्मक ही होता है, लिपि चित्रात्मक होती है। लिखे हुए को काव्य कहते हैं, यह शर्त किसे मंजूर होगी? नहीं तो काव्य और संगीत–दोनों नादात्मक ठहरते हैं और लिपि शब्दों की ही नहीं, स्वरों की भी होती है, इस युक्ति से दोनों को चित्रात्मक मानना होगा। इस प्रकार अपेक्षाकृत अमूर्त या अपेक्षाकृत मूर्त दोनों ही सिद्ध होते हैं।

अब जैसे मैं गाता हूँ :–

"जीवन की यह चाह नहीं है!
रुक-रुक कर जो साँस निकलती
उसमें उर की आह नहीं है!!"

तो इसे वर्णों के कारण मूर्त नहीं मानता, क्योंकि वैसी स्थिति में स्वर-लिपि संगीत को भी मूर्त कर देती है :–

		०	३
X	२	ग म ध प	रे रे सा –
ग – ग ग	म – म–		
		म – म ग	प प प पमे
	म		
ध नी ध प	रे – सा –	– सारे ग म	प प ध नी
ध ध प	प म		
नी –प ध	– मे पं		

इन दोनों की मूर्तता या अमूर्तता तुल्यबल है । इसके बाद बात आती है–प्रभाव विचार की; मुरली का नाद प्रकाशित होने से जंगम के जड़ और स्थावर के चर होने की, तो यहाँ भी तुलसीदासजी कहते हैं :

होत न भूतल भाव भरत को,
अचर सचर, चर अचर करत को ?

नाद का ही प्रभाव वैसा नहीं होता, भाव का भी होता है । तभी कालिदास–'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्' तक ही पहुँच कर नहीं रह जाते, यह भी कहते हैं–

'ममात्र' भावैकरसं मनः स्थितम् !'

कविता को आत्मा की कला मानने वाले (वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्) भवभूति बताते हैं :–

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
र्न खलु बहिरूपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ।

पण्डितराज ने 'काव्यं श्रुतम् अर्थो न ज्ञातः' द्वारा और क्या कहा है ? सुना जाने वाला भाग स्वर या नाद नहीं तो और क्या है ? पशु-पक्षियों-जैसे मानव के मन को काव्य भी कम प्रभावित नहीं करता है । जो बिना अर्थ के शब्द सुनता है, उसके लिए कालिदास की कविता भी तराने-जैसी निरर्थ स्वर लहरी भर है और जो अर्थ समझता है वह तराने के स्वरों को भी निरर्थ न कहेगा ।

यहाँ अवकाश नहीं कि प्रत्येक कला के सम्पृक्त स्वरूप का विस्तार से विवेचन करूँ, फिर भी यह कहूँगा, स्वरों को या शब्दों को नाद मात्र मान कर निश्चिन्त न हो जाना चाहिए । मैं साहस पूर्वक कहता हूँ–'राग' का रूप खड़ा करने में तूलिका और छेनी भी बन जाते हैं ।

नि सा म, म ग, प म, ग, म ग रे सा ।

स्वरों की यह वह 'ब्रॉड लाइन' है जिसमें 'भीमपलासी' की छवि उभर आती है । अब जैसे अक्षरों से शब्द बनता है, देखिए, कैसे नाद और लय के एक विशिष्ट अनुपात से संगीत 'साकार' हो जाता है ।

०	३	X	३
सां नि ध प	म प ग म	प– ग म	ग रे सा –
व र दे ऽ	वी ऽ णा ऽ	वा ऽ दि नि	व र दे ऽ

गीत और लय की स्थिति, तीव्र और कोमल ध्वनियों के उतार-चढ़ाव, दो स्वरों के सुघटित समीकरण का अनुपात भर देखिए तो संगीत का निनाद एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करता प्रतीत होगा ।

असल चीज भावक की अपनी तैयारी है । कलाओं के वर्गीकरण को लेकर वाद-विवाद करना एक बात है, उठाए हुए काम में जी खपाना और । कोई भी सबको समान रूप से नहीं प्रभावित करती–पात्र-भेद से कला-भेद है ।

संभवतः सन् '४१ में, एक दिन मैं 'मुक्त' जी को कामायनी पढ़ कर सुना रहा था । वह तब पटना सिटी वाले मकान में रह रहे थे । गाथा, राधा और साहित्यदर्शन के ही प्रकाशक बननेवाले थे, इसी क्रम में मैं उनके पास रुका हुआ था । उन दिनों मैं प्रायः कामायनी का पारायण करता रहता था । बेशक मुझसे A new broom sweeps clear की कहावत ही चरितार्थ होती थी ।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही दुख-सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान !
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;

व्यथा से नीली लहरों-बीच
बिखरते सुख-मणि-गण द्युतिमान !

–तन्मय हो कर मैं सस्वर सुनाता चला जा रहा था कि एक धौले-से सज्जन आ धमके और सितार के तार तोड़ कर धौंस जमाने लगे कि भाव ऐसे-वैसे, चाहे जैसे हों, प्रसाद की भाषा बहुत लचर है; कहीं-कहीं तो उसमें व्याकरण की भद्दी-भूलें भी हैं ।

कहीं पढ़ा था :

Be good and you will be lonesome.

जब वह अपने अरमान निकाल चुके, मैंन अर्ज किया : हो सकता है प्रसाद 'भाषा' को साहित्यिक अर्थ में लेते हों; हो सकता है, प्रसाद के पढ़ते वक्त पं० कामताप्रसाद गुरु का व्याकरण न निकला हो; मैं उनका लिहाज करता हूँ; भावक हूँ, आलोचक नहीं । आपको किसकी भाषा पसन्द है ?

'बच्चन की !'

बच्चन का नाम उनकी जुबान पर आया नहीं कि मुक्त जी तन कर बैठ गए, प्रसाद सुनते वक्त लेटे हुए थे, और मैं ? मैं गुनगुनाने लगा :

थी नौ आमोजे फ़ना हिम्मते-दुश्वार पसन्द
सख्त मुश्किल है कि यह काम भी आसां निकला !

ताजमहल एक कला-कृति है, वह टैगोर को भी प्रभावित करती है,पन्त को भी, साहिर को भी । वह एक के लिए स्थापत्य, दूसरे के लिए मूर्ति और तीसरे के लिए चित्र नहीं है; किन्तु उसका प्रभाव-विस्तार ?

जैसे एक हिरना बीन की धुन पर लुट जाता है, ऐसे ही दूसरे हिरने जान निछावर कर देते हैं; किन्तु टैगौर और पन्त पर भिन्न प्रतिक्रियाएँ क्यों ? क्या इसका उत्तर ताजमहल देगा ?

शुधु थाक्
एक विन्दु नयनेर जल
कालेर कपोल-तले शुभ्र समुज्ज्वल
ए ताजमहल !

–सुनते ही शून्य दिगन्त का इन्द्रजाल सिमट जाता है, काल के गाल पर एक बूँद आँसू झलमला उठता है ! पन्त का प्रेत-पूजा पर व्यंग्य उन्हीं की कविता के जिस्म में चुभने लगता है, शाहंशाह की दौलत की नुमाइश से भड़के

हुए साहिर की महबूबा अरहर के खेतों के उस पार, खंडहर की तरफ, क़दम बढ़ाते झिझकती है !

सो जो हो, संगीत के प्रभाव-विस्तार का रोना औरंगजेबी दिमाग को नजरअंदाज किए बगैर न चलेगा, यही बात काव्य पर भी हू-ब-हू लागू होती है ।

ऐसे में काव्य को सर्वोत्तम मानने के पक्ष में एक दलील दी जाती है कि संगीत नवों रसों को प्रकट करने में असमर्थ है । उसका प्रसार शृंगार, करुण और शान्त के अतिरिक्त वीर-रस तक संभव है; शब्दों के माध्यम से काव्य नवों को आँखों के आगे खड़ा कर देता है ।

व्यक्तिगत रूप से मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूँ । यह मानता हूँ कि बारीक पहचान होने पर पाँचों ललित कलाएँ नवों रसों को व्यक्त कर सकती हैं । चित्र और मूर्ति और स्थापत्य के आलोचकों में ऐसे कितने होते हैं जो स्वयं चित्रकार, मूर्तिकार या स्थपित हों ? फिर उनकी हदबंदी की उतावली किसी कला को अशेष संभावनाओं को स्थगित करके ही तो चरितार्थ होती है !

संगीत और काव्य के विभिन्न आयासों तक दृष्टि फैलाना—बगैर व्यावहारिक बोध और अनुभूति के, और एक को सर्वोत्तम और दूसरे को सर्वाधम कहना दुःसाहस मात्र है । एक 'वन्दे मातरम्' गाते समय पं० ओंकारनाथ ठाकुर कितने रस बरसाते हैं, जो भीगेगा, वह जान जाएगा ।

मुझे तो सौन्दर्य से रस तक का एक ही गूढ़ संकेत जान पड़ता है—रूप से अरूप की ओर; अन्वित द्वन्द्व से निर्द्वन्द्व आनन्द की ओर !

३

'भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है'—प्रसाद के समान महापण्डित ने यह कैसे लिखा, समझ में नहीं आता । आदि कवि ने तो राम के विरह से इसका श्रीगणेश ही किया है जो भवभूति तक अगाध विस्तार पाता चला गया है । कालिदास ने पुरूरवा, दुष्यन्त और यक्ष के विरह और अज के चिर-विरह से भारतीय संस्कृति को नहला दिया है । श्री हर्ष ने नल के विरह को उजागर किया है । वाण की कादम्बरी हो या पण्डितराज का भामिनी-विलास—कहीं भी पुरुष-विरह नहीं छूटा । हे खग, मृग हे मधुकर-श्रेणी, तुम देखी सीता मृगनैनी' वाले तुलसीदास हों, वियोगी को योगी बनाने वाले जायसी हों, ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' वाले सूरदास हों; 'एक बार भी यदि अजान के अन्तर से उठ आ जातीं तुम' वाले निराला हों

'उच्छवास' के पन्त हों या आँसू की धारा बहानेवाले स्वयं आप ही हों,–भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह की कहाँ कमी है ?–'असंगो ह्ययं पुरुष:' की दार्शनिकता के लिए यह स्थापना मेरे विचार से बहुत मंहगी है । भवभूति ने कहा है :

यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च–
ज्ञानं तत्कथनेन किं ? न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके !

कोई भी दर्शन ज्यों का त्यों काव्य में कैसे उतर आएगा ? आए तो दर्शन-शास्त्र से पृथक् उसका अपना अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? यदि संवेदनाओं से बनता है तो काव्य को विद्या मानें या कला, क्या फर्क पड़ता है ? तभी मैंने कहा : काव्य विद्या हो या कला या दोनों की अन्विति, इन शब्दों को लेकर खींच-तान करने से काव्य का कुछ नहीं आता-जाता ।

भारतीयता का देशपरक अर्थ भौगोलिक उत्कर्ष के लिए हो तो हो, वह अशेष मानवता के उत्कर्ष तक नहीं पहुँचता । आलोक आलोक है । भारत भरत का देश भी है, 'भा' में 'रत' भी । प्राचीन शब्द नया अर्थ देते हैं, दें, किन्तु नए शब्दों को प्राचीन अर्थ में मिट करते समय नाप-जोख में फर्क पड़े तो इस द्राविड प्राणायाम से प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं है । हम सत्, चित्, आनन्द की कल्पना करते हैं; सत् के साथ सत्य, चित् के साथ शिव और आनन्द के साथ सुन्दर को जोड़े चलते हैं; कवि ने सत्य और सुन्दर में अभेद का अनुभव किया था और क्रोचे सत्य पर सुन्दर को तरजीह देते हुए कहते हैं–

If I had to choose between beauty and truth, I should not hesitate it is beauty I should keep........There is nothing true in the world except beauty.

मैं कहता हूँ यहाँ न आत्म-विरोध है, न परस्पर विरोध, बस दो शब्दों लेकर जोर-आजमाइश है; सत्य और सुन्दर–इन दोनों शब्दों को जिस अर्थ में शैव कालिदास, वैष्णव जयदेव या कीट्स और ब्राउनिंग लेते हैं, ठीक उसी अर्थ में क्रोचे ने लिया है क्या ? और, प्रसाद के ही शब्दों में–

पुरातनता का यह नर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक !

औचित्यपूर्ण अर्थ-विस्तार के कारण यदि शब्दों की रूढ़ि का व्यामोह छूटता चला जाए तो प्राच्य-प्रतीच्य की विचारधाराओं और उपलब्धियों का स्वाभाविक संगम भी संभावित है, क्योंकि हम जिसे तात्त्विक वैषम्य समझते हैं,

वह बहुत बार शाब्दिक ही अधिक होता है ।

'काव्य और कला' निबन्ध पूर्व-पश्चिम की परम्पराओं के तुलनात्मक बोध के लिए अवश्य द्रष्टव्य है, क्योंकि वह कामायनी के निर्माता की शास्त्रीय निर्मलता की भूमि है; क्रमागत आग्रहों की सुविन्यस्त प्रशस्ति मात्र नहीं ।

'प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल'

–लिखनेवाला क्योंकर पूर्वाग्रही होगा ?

अणुओं को है विश्राम कहाँ,
यह कृतिमय वेग भरा कितना !
अविराम नाचता कम्पन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना !
उन नृत्य -शिथिल निश्वासों की
कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता-छनता
बनता है प्राणों की छाया !

–के कल्पक का सौन्दर्य्यबोध पूर्व-प्रकाशित है या पश्चिम-चमत्कृत, स्तर पर दृष्टि टिका कर कौन तर्कातीत अन्तिम निर्णय देगा ? लाज-भरे सौन्दर्य-सम्बन्धी यह उद्धरण–

तुम कनक-किरण के अन्तराल में
लुकछुप कर चलते हो क्यों ?'

–पढ़ते समय बायरन की याद आती है ?

'She walks in beauty, like the night
of cloudless climes and starry skies;
And all that's best of dark and bright
Meet in her aspect and her eyes.'

बस ऐसे ही जुदा-जुदा दिलों की धड़कनें मिल जाती हैं; रश्मि-रेखाएँ अनदेखी तसवीरों में तबदील हो जाती हैं; पूरब में जिसकी तिमिर-वेणी खुल कर फैलती-फहराती है, उसी का सुनहला आँचल पच्छिम में खिसक-खिसक जाता है ।

बेवर ने यों ही नहीं कहा :–

Philosophy conceives God; Art is God.

जनवरी '५८

निराला की कविता

निराला की कविता पर बहुत कम लिखा गया है । इसलिए नहीं कि उनकी कृतियाँ विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत कम पढ़ाई जाती हैं, अत: 'अनुभवी अध्यापकों को 'वटुतोषिणी टीकाएँ' लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । इसलिए भी नहीं कि 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीय:' की लोकोक्ति को एकमात्र उन्हीं पर चरितार्थ करने की कोई सामूहिक योजना बना ली गई है । प्रत्युत मेरी समझ से उसका कारण यह है कि निराला का असाधारण व्यक्तित्व, जो उनकी कलाकृतियों में बहुविध अभिव्यक्तियों से झाँकता रहा है, चौंधिया देनेवाली रोशनी के कारण झटपट पकड़ में नहीं आता; उनकी बहुरंगी जीवनानुभूतियों में इकरंगे जीवन-दर्शन का पता नहीं लगता । व्यवसायी आलोचकों को थोक पूँजी ही हाथ नहीं लगती, फिर वे वस्तुनिष्ठ आलोचना के खुदरे व्यापार में प्रवृत्त हों तो कैसे ?

अलबत्ता झुँझलाकर निषेधात्मक रूप में वैसे-वैसों ने बेरोक लेखनी दौड़ाई है । उनकी सांस्कृतिक भाषा को क्लिष्ट और कलात्मक अभिव्यक्तियों को दुरूह बताकर गर्दन झाड़ लेने में आगा-पीछा नहीं किया है । और, यह सब कुछ ऐसे नाजी ढंग से, अधिकारपूर्वक किया है कि प्रतिक्रिया में स्थापित उस 'सच' को झुठला देना आसान नहीं रह गया है ।

अनेक 'वादी' आलोचकों ने आलोचना के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त बघारे हैं जिनके द्वारा उद्धृत निराला के अधिकांश पदों का वह अर्थ भी नहीं होता जिसे प्रमाण मानकर उन्होंने निराला को पाठ पढ़ाया है ! इससे सम्भवत: यही सिद्ध होता है कि निराला महान् हैं, ऐसे अनुल्लंघ्य महान् जिसे ठीक-ठाक नहीं मापा जा सकता । यों, प्रशान्त महासागर के तल से पल भर में विज्ञान ने कीचड़ निकाला और गौरीशंकर शिखर पर सतरंगा झण्डा भी गाड़ा ही है ।

अधिकारी विद्वानों ने कुछ प्रामाणिक विवेचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं और डाक्टर रामविलास शर्मा ने बड़े श्रम से 'निराला' नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक भी लिखी है; परन्तु निराला की कविता के सांगोपांग अध्ययन के लिए वह पर्याप्त नहीं है। 'निराला' पुस्तक ने तो कदाचित् यह भी प्रमाणित कर दिया है कि निराला को वादों में बाँध रखना साहित्यिक ईमानदारी का परिणाम नहीं हो सकता।

मैं समझता हूँ, निराला की तथाकथित क्लिष्टता, दुरूहता किंवा जटिलता का रहस्य कहीं-न-कहीं 'वादी-विवादी' आलोचनाओं में भी अवश्य निहित है। निराला अपने तई सम्भवत: वैसे महान् नहीं हैं कि उन्हें हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह उलट-पुलटकर नहीं निरखा-परखा जा सकता।*

पूरे इक्कीस साल पहले सन् '३३ में श्री नलिनविलोचन शर्मा ने लिखा था -'निराला जी जॉनसन की तरह कर्मठ और अध्यवसायी, लार्ड वाइरन-से उद्भट प्रत्यालोचक, कीट्स और टैगोर की तरह सु-कवि और टाल्सटाय, ह्यूगो

---

*श्री नरेश ने 'काव्यानुशासन'-नामक निबन्ध में लिखा है :-

निराला की कविताएँ काव्य की संज्ञा की वास्तविक अधिकारिणी हैं। हिन्दी में अब तक कवि कहे जाने के हकदार एकमात्र वही हैं। उनका काव्य कितना नि:संग (डीपरसनलाइज्ड) है, यह इसी से स्पष्ट है कि उनके काव्य से अब तक भी इने-गिने व्यक्तियों ने ही आनन्द लिया है।

निराला के गीतों में एक विशेषता है-हर गीत की गहनता (इनटेंसिटी) महाकाव्य की है। 'कैलास-दर्शन' से 'कुकुरमुत्ता' तक में। उनके काव्य का एक-एक शब्द जीवन्त, प्राण-शक्ति से पूर्ण और सशक्त (वाइटल, फोर्सफुल) है। शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया हो कि उनकी शक्ति की सम्भावनाओं को अधिक-से-अधिक गृहीत (एक्सप्लायट) किया जा सके, केवल निराला में है।

'साहित्य'-वर्ष २, अंक २

1. The nationalism of a Poet is not a politicians' nationalism. We do not write national poetry by being a nationalist and writing poetry.

To Nirala his Poems represent his language and his country.

-The Constant Pursuit'

D. Thakur.

और शॉ की तरह निर्भीक उत्क्रांतिकारी औपन्यासिक हैं ।' और अभी तीन वर्ष पहले सन् '५१ में उन्होंने लिखा-'हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में क्यों राजकीय स्वीकृति मिलनी चाहिए थी, इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित किए गए और अन्ततः हिन्दी को ईप्सित मान्यता मिली भी । जो तर्क सर्वथा अकाट्य था, उसे किसी हिन्दी प्रेमी ने कभी गर्व के साथ उपस्थित किया, इसका ज्ञान इन पंक्तियों के लेखक को नहीं है । भारत की सभी आधुनिक भाषाओं के जीवित कवियों में एकमात्र हिन्दी को ही 'निराला' का दावा करने का सौभाग्य है । इस महाकवि को पाकर कोई भी समृद्ध भाषा गौरवान्वित हो सकती है । यह दूसरी बात है कि इस महाकवि की भाषा बोलनेवाले जितने अगुण ग्राहक हो सकते हैं, उतने दूसरे नहीं । हमारी दृष्टि में यदि निराला-जैसा कवि हिन्दी में नहीं लिखता होता, तो हिन्दी राष्ट्रभाषा के सम्मानित पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती थी ।'

अपनी पैंतीस वर्षों की साहित्य-साधना में निराला ने कुछ महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं को ही छन्दोबद्ध नहीं कर दिया है जिससे उनके द्वारा राष्ट्र या राष्ट्रभाषा के साक्षात् गौरवान्वित होने की बात पानी की तरह साफ हो गई हो ! नहीं, यदि ऐसा होता, तब तो घटनाचक्र के पद्यकार को महान् कवि मानकर कोई अपना साहित्यिक अज्ञान प्रकट ही न करता ।[1] वादी आलोचक उनमें दो क्रांतिकारी युगों का प्रतिनिधित्व ही नहीं पाते ! किन्तु उनकी राष्ट्रीयता तो तेजस्विनी भाषा और जीवन्त काव्य-कला की परिधि के भीतर से ही पूरी प्रखरता के साथ प्रकाशित हुई है, उसने सस्ती नारेबाजी का रास्ता कहाँ अख्तियार किया है ? श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में-'निराला की कविता में राष्ट्रीय भावधारा प्रत्यक्ष 'माइक्रोफोनी' या प्रचारात्मक 'झण्डावादी' या 'नारावादी' कविता बनकर नहीं आई । भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन के, उसकी उथल-पुथल के, बहुत सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष प्रभाव-सूत्र निराला की रचना में विद्यमान हैं । ....वे सब कविताएँ प्रगतिशीलता के बहुत उत्तम उदाहरण हैं; जहाँ अर्थशास्त्र के कठिन सिद्धान्त 'पाँचक' की दस पंक्तियों में 'कांग्रेस' कर रख दिए गए हैं; जहाँ गतिरोध की भयानकता 'तारे गिनते रहे' में व्यक्त कर दी गई है; जहाँ मेढ़क और कुत्ते की प्रतीकात्मक सहायता लेकर किसानों की असहायता और विषमता पर निर्भय घनाघात है, जहाँ विशुद्ध नैचुरलिज्म है,-जैसे 'डिप्टी साहब आए' या

'महँगू महँगा रहा' में-जो कि समाजवादी यथार्थवाद से गर्भित है; या कि शुद्ध भावनात्मक चीजें हैं, जैसे आर० एस० पंडित की प्रेतयात्रा और प्रेतदाह पर 'तिलांजलि', और 'खून की होली जो खेली' में विद्यार्थियों की आई० एन० ए० के सम्बन्ध में गोलियाँ खाने पर भावोन्मेष ! इन सब कविताओं में निराला ने मार्बिड मृत्यु-प्रेम नहीं दरसाया है, जो अक्सर राष्ट्रीय ध्वंसवादी कवि दिखाते हैं। उनकी स्वस्थ, परुष, कलाकार आत्मा सर्वत्र दहाड़ती है, 'हुइ-हुइ' कर विलाप नहीं करती।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रकारांतर से उनकी असाधारण साहित्यिक मर्यादा को लक्ष्य किया है-'विद्रोह के स्वर में बोलनेवाले साहित्यकारों की इस युग में कमी नही है। पुरातन विधि-निषेध-व्यवस्था को खुली चुनौती देना आजकल की अति परिचित घटना है। सनातन समझी जानेवाली नैतिकता निस्सन्देह आजकल सबसे प्रधान हंतव्य मानी जाने लगी है। किंतु इस प्रकार की चुनौती देनेवाले प्रायः संतुलन खो बैठते हैं; व्यवस्था का विरोध प्रायः ही उच्छृङ्खलता के द्वारा किया जाता है और सनातन समझी जानेवाली नैतिकता का विरोधी ततोधिक सनातन मानी जानेवाली निर्मर्याद वाचालता का आश्रय लेता है ! किन्तु निराला के काव्य में इतना विद्रोह और ललकार होने पर भी उच्छृङ्खल और निर्मर्याद वाचालता नहीं आने पाई है। इसका कारण यह है कि निरालाजी को अपना लक्ष्य ठीक मालूम है। अच्छा डाक्टर रोग पर आक्रमण करता है, रोगी पर नहीं; और इसीलिए उसके सारे प्रयत्नों की एक सीमा होती है। यदि उसके प्रयत्न रोग को नष्ट करने के बाद रोगी भी नष्ट करने लगें तो निस्सन्देह वह अवांछनीय डाक्टर है। निरालाजी के कठोर-से कठोर आक्रमण भी मर्यादित हैं।'

संक्षेप में, आए दिन निराला के पुनर्मूल्यांकन का कार्य, रचनात्मक, आलोचनाओं के माध्यम से, नए सिरे से शुरू हो गया है, यह ऊपर के कतिपय नए निर्देशों से स्पष्ट हो जाता है। ज्यों-ज्यों निराला की कविता का मनन-मंथन होगा, त्यों-त्यों हिन्दी कविता की असीम शक्ति-सामर्थ्य ही उद्घाटित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

(२)

यों तो निराला की 'जुही की कली' का और मेरा जन्म एक ही साल हुआ था; किन्तु मेरा उससे प्रथम परिचय अट्ठारह वर्ष बाद हुआ। तबसे अपनी

ही आँखों निराला की कविता को देखता आ रहा हूँ । देखता आ रहा हूँ कि निराला की काव्य-प्रतिभा दल-पर-दल खोलती हुई सम्पूर्ण अर्थ में शतदल हो चुकी है और अब वह सहस्रदल होने के क्रम में है । इधर के गीत आकृति में जितने छोटे हैं, प्रकृति में उतने ही बड़े । ऐसा प्रतीत होता है कि -'भाव जो छलके पदों पर, न हों हल्के, न हों नश्वर' की प्रार्थना सार्थक हो चुकी है ।

इधर 'रचना की ऋजु बीन बनीं तुम, ऋतु के नयन नवीन बनीं तुम' से आरम्भ कर अब तक के गीत संगृहीत नहीं हुए हैं, एक 'अर्चना' आई है । अत: अभी आरम्भिक रचनाओं की भाँति इनका संकलन भी दुर्लभ होने के कारण निराला की कविता का अध्ययन क्रमश: परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता, बेला; नये पत्ते और अर्चना द्वारा ही सम्भव है । यहाँ थोड़े में इन्हीं नवरत्नों की चर्चा का प्रयत्न किया जायगा ।

'परिमल' सन् '२९ में प्रकाशित हुआ था । पन्द्रह वर्ष से खड़ी बोली की कविता जिस जीवन्त भाषा-शैली एवं भाव-विस्तार का संधान तथा निर्माण करती आ रही थी उसकी प्रथम प्रतिनिधि रचना न 'पल्लव' है और न 'आँसू', वह 'परिमल' ही है, यह इस परस्पर-प्रशंसी युग के समाप्त होते ही तटस्थ आलोचकों द्वारा उद्घोषित हो जायगा । डाक्टर भटनागर ने ठीक ही लिखा है-'आँसू' की अभिव्यंजना को कम लोग ठीक-ठीक समझ पाते थे, आज भी सब सरलता से उसे समझ नहीं पाते । 'पल्लव' में मूर्तिमत्ता (कल्पना) का अतिरेक इतना था, अँगरेजी रोमांटिक कवियों (विशेषकर 'शेली') की छाप इतनी अधिक थी कि उस काव्य का हिन्दीपन बहुत-कुछ डूब गया था । निराला के 'परिमल' ने इस हिन्दीपन को अक्षुण्ण बनाये रखा । प्रसाद गुण, सीधी-सादी अभिव्यंजना; साधारण बोलचाल के ढंग पर वाक्य-विन्यास-ये हिन्दी के लिए नई चीजें थीं । १९३० के पाठकों और आलोचकों में विश्लेषणात्मक दृष्टि का अभाव था, इससे केवल कुछ रहस्यात्मक कविताओं के नाते 'निराला' को 'कठिन कवि', 'रहस्यवादी कवि' या 'दार्शनिक कवि' कहकर छुट्टी पा ली गई । परन्तु सच तो यह है कि पंत, प्रसाद और निराला-तीनो नये कवियों में निराला का काव्य ही अधिक विस्तृत भूमि पर खड़ा था । न वह प्रसाद की कविता की तरह अभिव्यंजनात्मक शैली के चक्कर में पड़ा था, न उसे पंत के 'पल्लव' की कविताओं की तरह उपमा-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगानी थी ।'

आज हिन्दी कविता में 'सचेष्ट सरलीकरण' की जैसी अद्भुत प्रक्रिया अपनाई जाने लगी है, चौंतीस वर्ष पहले निराला में उसका स्वस्थ, स्वाभाविक रूप देखते ही बनता है । भाषा का विकच बचपन जहाँ-

लाज ने पकड़ लिए हैं पैर,
करूँगी अब न बाग की सैर !

-जैसी पंक्तियों से प्रकट होता है, वहाँ उसकी स्वस्थ गतिशील सुन्दरता का पता मिलता है-

अलसता की-सी लता ।
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर पथ से चली !

अथवा

बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन-उभार ने-
पल्लव-पर्यङ्क पर सोई शेफालिके !

-के समान प्राणवंत पंक्तियों से । और मेरा तो यह अन्तिम अभिमत है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोकों की झड़ियों से सुन्दर सुकुमार देह सारी
झकझोर डाली !

से अधिक आवेगपूर्ण तथा सौन्दर्य-दृप्त भाषा का प्रयोग हुआ ही नहीं ।

'परिमल' की विषय-वस्तु की व्यापकता के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन अपेक्षित है । निराला नई टेकनीक की राह से ही नई भावभूमि की ओर क्रमश: बढ़ना चाहते थे, यह उनके मुक्तवृत्त के प्रथम आग्रह से भी स्पष्ट हो जाता है :-

आज नही है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !

'परिमल' में प्रार्थना के पद हैं; प्रकृति की 'बहिरन्तर' छवियों के

प्राणवान् प्रतिमान हैं; प्रेम की आन्तरिक उपलब्धि की स्वरलिपि है; दार्शनिक भाव-भूमि का निर्मल प्रकाश है और युग की, राष्ट्रीय चेतना की ऊँची पहचान के साक्षी कलात्मक संयम तथा दार्शनिक गाम्भीर्य से उद्दीप्त मेघ-निर्घोष भी है।

निराला के, शाखा-प्रशाखाओं में स्निग्धच्छाय, काव्य-कल्पतरु का मूल स्वयं उन्हीं का विराट् व्यक्तित्व है।

'गीतिका' में भी आरम्भ ही से अनेक आकार-प्रकार के गीत देखने को मिलते हैं-विशुद्ध दार्शनिक और शृंगारात्मक; आवेगपूर्ण और गाम्भीर्य्य-मंथर; अलंकार-खचित और निराभरण। कहीं तो वेदान्त की सरसता काव्य की कमनीयता में समरस हुई दिखती है और कहीं दर्शन की दिव्य ज्योति रमणी की रमणीयता बनी हुई। कहीं कठिन साधना-शिला से पिष्ट प्रणय की मर्मच्छवि है और कहीं गोधूलि के मटमैले प्रकाश में, निराशा से झुकी हुई गीली पलकों का छायाचित्र। कहीं मृदंग का मंगल निनाद है और कहीं प्राणवल्लकी के कनक रजत तारों की मदिर-मधुर झंकार। तात्पर्य यह कि इसमें महादेवी के गीतों की तरह एक ही भाव की विविध भावनाएँ नहीं; किन्तु वस्तुतः विभिन्न स्थितियाँ और परिस्थितियाँ हैं; और कहीं-कहीं तो एक-ही-एक में आश्चर्यकर अनेकता है।

कदाचित् यह ऐसा इसलिए है कि कवि को गत्यात्मक जीवन का कोई एक ही रूप, कोई एक ही स्थिति, कोई एक ही पक्ष जमकर देखते रहना पसन्द नहीं है; वह हँसी के साथ आँसू को, विरह के साथ मिलन को; सौन्दर्य के साथ स्वास्थ्य को, मृत्यु के साथ मुक्ति को और आरम्भ के साथ परिणति को अन्वित कर निरखता-परखता है। जीवन की जिस पंकिल पगडंडी पर पल भर पग रखता है उसी पर अपनी अमिट छाप छोड़ देता है। काव्यगत चित्रण में रेखा के साथ रंग-रंग के साथ लय और लय के साथ स्वयं वही सुरीला हो गया है। गीतों के केन्द्र में अपने व्यक्तित्व को सुप्रतिष्ठित करने के क्रम में उसने चित्र और संगीत की रूढ़ि से निःसंग होकर आत्म-निरीक्षण किया है कि उसका स्वर निषाद में साफ़ है या गांधार में सधा, उसकी तड़ित्तूलिका जड़ प्रकृति को सजीव कर सकी है या सजीव सत्ता को सजग; उसका रूप-निर्माण सफल हुआ है या प्राण-प्रतिष्ठा समारोह-पूर्ण; उसकी कल्पना ओजस्विनी है या अनुभूति तेजस्विनी; उसकी वासना तीव्र है या साधना उग्र; वह गा सका है, रंग भर सका है या

निर्माता भी है। अनेक ऐसे ही जाग्रत क्षणों की बारीक पकड़ गीतिका के वर्ण-चमत्कार और भावोल्लास, ओज और माधुर्य, छन्द और संगीत की विविधता में वाणी पा गई है। फिर भी 'अविभक्तं विभक्तेषु' का अभिज्ञ गीतिका की केन्द्रीय दार्शनिकता को सहज ही लक्ष्य कर लेगा। आरम्भ में कवि ने 'नव नभ के नव विहग वृंद को नव पर, नव स्वर' देने की जो वह्वर्थक प्रार्थना की है, वह अन्तिम गीत में-'उड़ने को नभ को ताकें, उपवन की परियाँ आली' की तृप्ति से ही चरितार्थ हुई है।

'अनामिका' में 'परिमल' और 'गीतिका' की अपेक्षा निराला का और प्रौढ़ पुष्ट, और अधिक स्वर्थ-समर्थ रूप प्रकट हुआ है। निराला की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से काव्य की सामग्री का संकलन किया है। अत: छन्दों की मुक्ति के प्रवर्तन के साथ-साथ आधुनिक कविता के विषय-विस्तार की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वप्रथम 'परिमल' के द्वारा अंकित हुआ, फिर 'गीतिका' ने विन्दु में सिन्धु समो देने की उनकी उदात्त शक्ति का अपरूप परिचय दिया और इस 'अनामिका' ने तो एक ही साथ (बीज-रूप में परिमल-काल से ही विद्यमान) उनकी उन त्रिविध प्रवृत्तियों को प्रकाशित किया जिनमें क्रमश: 'क्लासिकल' कलात्मक प्रौढ़ि, व्यंग्यात्मक सामर्थ्य और प्रगतिशील तत्त्वों का अद्भुत आकलन है। दूसरे शब्दों में 'अनामिका' में शक्ति और सौंदर्य की जैसी अन्योन्य-संसक्तता के दर्शन होते हैं वैसी, आधुनिक हिन्दी-काव्य में, पहले या अब तक और कहीं नहीं देखी गई।

'अनामिका' साधक कवि की सिद्धावस्था है। 'राम की शक्ति-पूजा' के-से स्वल्प आकार-प्रकार, परम प्रौढ़ 'प्रबन्ध काव्य' विश्व की किसी भी भाषा में कभी नहीं लिखा गया। 'सरोज-समृति'-सी 'एलेजी' न 'ग्रे' की है और न 'आर्नल्ड' की। वाह्य तथा अन्तर्जगत द्वन्द्वों, आलोड़नों से उन्मथित-तरंगायित, प्रसिद्धि से सिद्धि तक के क्रम को झकझोर देनेवाले व्यंग्य से स्तब्ध कर देनेवाली निस्तब्ध लब्धि तक की,-अभिव्यक्तियों से ओत-प्रोत, 'वनबेला' सी अतल के अतुल वास से भरी कविता बार-बार नहीं रची जाती।

'अनामिका' निराला का प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। इसमें छन्दों के नए-नए प्रकार के प्रस्तार में, विचारों की उच्चता में-सर्वत्र वह महान् कवि-कलाकार के रूप में प्रकट हुए हैं। कोरी भावुकता या भावोच्छ्वास से ऊपर-बहुत ऊपर

उठे हुए कला-साधक की प्रौढ़ शैली और पुष्ट भावों का प्रवाह 'अनामिका' की अपनी विशेषता है । बड़ी-से-बड़ी कविता में भी जैसे कोई श्लथ-शिथिल पंक्ति ढूँढ़े नहीं मिल सकती वैसे ही यहाँ छोटी-से छोटी रचना भी महत्ता में अनुपम प्रमाणित होगी । 'तोड़ती पत्थर' अथवा 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'बादल गरजे' या 'तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा'-ये सभी एक से बढ़कर एक हैं ।

'ठूँठ' की भावाभिव्यंजकता इसी प्रकार की एक संस्कृत कविता-

कस्त्वं भोः ? कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटजं,
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते-
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायाऽपि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ।

-से तुलना करने पर अपनी श्रेष्ठता के पर्याप्त मार्मिक उपकरण प्रस्तुत कर देगी । उद्धृत पद्य में एक भुतहे पेड़ और बटोही की बातचीत है । बटोही पूछता है-

'तुम कौन हो, जी ?'
'ठहरो, बताता हूँ,-मैं एक अभागा भुतहा पेड़ हूँ !
'बड़ा ही कचोट-भरा जवाब देते हो तुम तो !'
'हाँ, भई, तुमने सही समझा ।'
'मगर ऐसा क्यों ?'

'बताता हूँ,-देखो न, यह इधर बाईं ओर जो एक बरगद का पेड़ दिखाई पड़ता है उसे बटोही हमेशा घेरे ही रहते हैं-कभी कोई इसके ठण्डे साए में सोया रहता है, कोई पकाता-खाता रहता है, कोई दोने बनाने के लिए पत्ते तोड़ता है; मतलब, सब के सब इसे चाहते हैं, और इधर एक मैं हूँ जो ठीक रास्ते पर पड़ता हूँ, पर और तो और जिसे देखो, वही मेरी छाँह तक बचाकर कतराकर धीरे से निकल जाता है; अपने थककर चूर हुए बदन पर भी मेरा साया नहीं पड़ने देना चाहता ।

निराला का ठूँठ अपने में ऐसी व्यथा नहीं छिपाए हुए है । वह फक्कड़ है, मस्त है, उसे ललित लवंग-लताओं से ईर्ष्या नहीं, वह कृतघ्नता सहकर व्यंग्य की एक बेधक मुसकान के साथ कहता है-

अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर !

'एजरा पाउण्ड' के 'द ट्री' या 'थ्रेनस' से तुलना के योग्य यह परिधि नहीं, फिर भी थ्रेनस की कुछ पंक्तियाँ यहाँ बरबस गगन-मन में घुमड़ने लगी हैं-

नो मोर फाँर अस द लिट्ल साइंग
नो मोर द विंड्स ऐट ट्विलाईट ट्रबुल अस
x x
नो मोर डिजायर फ्लाइएथ मी,
नो मोर फॉर अस द ट्रेम्बलिंग
ऐट द मीटिंग ऑफ हैंड्स ।

'केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद' की-सी निगूढ़ व्यञ्जना अवश्य इनमें कहीं नहीं है । वैसी व्यञ्जना का ईषत् आभास एक दूसरी कविता में मिलता है-

एंपटी आर द वेज ऑफ दिस लैंड ह्वेवर आयोन
वाक्ड वंस, एण्ड नाउ डज नॉट वाक
बट सीम्स लाइक ए पर्सन जस्ट गॉन ।

-'Ione, dead the long year'

'तुलसीदास' निराला की एक महान् कलाकृति है । 'राम की शक्ति-पूजा' से इसकी समता उदात्तता तथा गाढ़-बन्धता के कारण ही प्रचलित हुई है । वैसे, मेरे विचार से, इनमें, रचना-कौशल तथा भावधारा-सम्बन्धी पर्याप्त वैषम्य है । 'राम की शक्ति-पूजा' में पांडित्यपूर्ण ओजस्विनी भाषा का सुघटित छंद के भीतर से सुसंयत प्रवाह तथा असाधारण भावगरिमा विद्यमान है जिस कारण वह पाश्चात्य 'एपिक' का सान्निध्य प्राप्त करती है । पौराणिक आख्यान के आधार पर रचित तथा सांकेतिक व्यंजनाओं से ओत-प्रोत होकर भी वह विशिष्ट मनोभूमि पर घटित होनेवाले चारित्रिक घात-प्रतिघातों की सजीवता के महाकाव्य-सी महार्घ है । किन्तु 'तुलसीदास' तो इतिहास, समाज, राजनीति, दर्शन तथा मनोविज्ञान के ताने-बानों से बुना हुआ एक ऐसा संश्लिष्ट खण्डकाव्य है, जो

मेघदूत की श्रेणी की व्यापक बहुमूल्यता का अधिकारी है । स्वल्प परिधि में ही, कल्पनाओं की मांसलता, विचारों की प्रौढ़ता, द्वन्द्वात्मक भावनाओं की नाटकीय उच्चावचता तथा कलात्मक कसाव की दृष्टि से वह 'कामायनी' से कहीं अधिक सफल काव्य है, यह मेरा सुदृढ़ विचार है ।

छायावादी युग में 'तुलसीदास' का जन्म उस युग को अमरत्व प्रदान करने के लिए ही हुआ होगा । अभी तक छायावाद का अर्थ हवाई कल्पना समझनेवालों को चाहिए कि वह निराला की कविता, विशेषकर 'तुलसीदास' के जोड़-तोड़ की कोई दूसरी कलाकृति आधुनिक हिन्दी-काव्य से दें । 'कामायनी' का नाम लेने से काम नहीं चलेगा । 'कामायनी' की महत्ता उसकी प्रशंसा करने की परिपाटी में से नहीं प्रकट होती । मैं मधुमयी भाषा और समरसता के सिद्धांत पर उद्धरण-प्रचुर, बहुज्ञता की विज्ञापिका, नीरस व्याख्यानमाला की अपेक्षा नहीं करता । यह कहता हूँ कि उस विराट् पट पर अंकित चलचित्रों से 'तुलसीदास' की चित्ररेखाएँ कहीं अधिक पुष्ट और प्रदीप्त हैं । 'कामायनी' की मधुमादकता में जहाँ काव्य का सम्पूर्ण वातावरण झीमता रहा है, वहाँ 'तुलसीदास' की पौरुष-प्रगल्भ तेजस्विता से काव्य की पंक्ति-पंक्ति में गत्यात्मकता और प्रबुद्धता बनी रही है । 'कामायनी' के कलस्वन वंश से 'तुलसीदास' का धमकता हुआ मृदंग नहीं तुलित हो सकता ।

कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में संचारिणी पल्लविनी लता-सी उमा की छविच्छटा का अंकन कालिदास की कनक-तूलिका का अतुल चमत्कार समझा जाता है । वस्तुतः अकलुष सौन्दर्य की पावन मादकता की उससे ऊँची सृष्टि अब तक नहीं देखी गई; किन्तु भाव व्यंजना में उतनी ही गम्भीर, अपर प्रकार की एक नारी-मूर्त्ति 'तुलसीदास' में अंकित हुई है-

देखा, शारदा नीलवसना
हैं सम्मुख स्वयं, सृष्टिरशना
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री;
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटीं तर अमृताक्षर-निर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण-कमल जिस पर श्री !

मैं समझता हूँ, यह वैदिक उषा-सी विश्व-व्यापक पावन ज्योतिः प्रतिमा

है। 'तुलसीदास' पर शेली की वह सम्मति मान्य हो सकती है, जो उसने कीट्स के 'हाइपीरियन' को 'पैराडाइज लॉस्ट' से भी श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए दी थी-'इफ हाइपीरियन बी नॉट ग्रैंड पोएट्री, नन हैज बीन प्रोड्यूस्ड बाई आवर कन्टेम्प्ररी ।' मैं 'तुलसीदास' के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ कहना चाहता हूँ कि यदि 'तुलसीदास' महान् काव्य नहीं है तो दूसरा उस युग में और कोई नहीं रचा गया ।

'परिमल' में कसाव के साथ-साथ खुलाव भी था । हर रंग के डोरे उसके ताने-बाने में थे, फिर भी 'चदरिया' झीनी-झीनी बीनी गई थी । और 'गीतिका' में रंग उभरा-गहराया, बुनाई घनी-गाढ़ी, फिर भी जैसे ढाके का साठ गज मलमल कि क्वाँरी लुनाई छिपाए न छिपे । 'अनामिका' में परिमल और गीतिका के वस्तु-विस्तार तथा रचना-कौशल का मिश्र विकास दिखता है ।' 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' से बहुत पहले रचित होकर भी बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, अतः 'अनामिका' की महाकाव्य-सी गहन कतिपय कविताओं में ही उसकी शैली और जीवन के आवेग की छिटपुट छाप देखी जानी चाहिए ।

इस प्रकार निराला की कविता की सुनहली तरुणाई 'परिमल' से 'तुलसीदास' तक रूप-रस-गन्ध की पर्तों पर पर्तें बिछाती गई । 'अणिमा' में पहली बार उसे वह आभरण उतारते देखा गया, 'परिमल' के वनफूलों के शृंगार को पतझड़ के अल्हड़ झोंके की तरह तोड़कर गीतिका-गायन-काल से ही जिसे ससंभ्रम धारण कर रक्खा था । 'परिमल' यदि निराला का एकमात्र धरातल होता तो 'अणिमा' उसी की प्राकृतिकता कहलाती ।

'अणिमा' के गीत उज्ज्वल जल-भरे बादल-से इकहरे कजरारे हैं । ऐसे कि किसी जलपरी की छिंगुनी से छू जाने पर भी अनास्वादित रस बरस पड़े ! व्यावहारिक, घरेलूपन लिए, चार बरस की बिटिया की आँसुओं से डलबल आँखों-सी सरल-सजल भाषा; स्वर-सौन्दर्य से अतिशय श्रुति-मधुर गीत 'अणिमा' की बहिरंग विशेषता है । इसमें 'तुमसे चल तुममें ही पहुँचे, जितने रस आनन्द रहे'-ऐसी उपलब्धि है; 'तुम्हें सुनाने को मैंने भी नहीं कहीं कम गाने गाए'-जैसी दृप्त तृप्ति है । 'जानता हूँ, नदी, झरने, जो मुझे थे पार करने, कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला' की भाँति अखण्ड आत्म-विश्वास है; 'द्रुम-दल-शोभी फुल्ल नयन ये, जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये'-के समान स्वस्थ-सन्तुलित

शृंगार है; 'हरे तन-मन प्रीति-पावन; मधुर हो मुख मनोभावन; सहज चितवन पर तरंगित हो तुम्हारी किरण तरुणा' के तुल्य आर्द्र करुणा है और 'दूर हो अभिमान संशय, वर्ण आश्रम-गत महाभय; जाति जीवन हो निरामय, वह सदाशयता प्रखर दे'-ऐसी जातीय सदाशयता भी है ।

आलोचकों को शिकायत है कि 'अणिमा' में निराला का मौसम सम पर है; प्रतिभा का फेनोज्ज्वल ज्वार उतार पर है,-वह रैदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रति भी प्रणत हो उठे हैं ! सचमुच ही बिजली की कड़क और बादलों की तड़क-भड़क से क्वाँर की मादनी चाँदनी में नहाए आकाश की छवि और होती है; धुएँ के भभाकों में खोई लपटों से दहकते अंगारे दूसरी तरह के होते हैं, आमूल मुकुलिता माधवी की बेल से पदतल पद बिछे फूलोंवाले हरसिंगार के झाड़ में अन्तर होता है । सचमुच ही 'अणिमा' से निराला की कविता नए मोड़ लेती है ।

नए मोड़ लेती है जैसे 'युगान्त' से पन्त की कविता । इसमें अतीत का सिंहावलोकन है; वर्तमान की धुंध और भविष्य का प्रकाश भी । अपनी आवृत्ति भी निराला ने नहीं की, अत: युग-सन्धि के रन्ध्र से छनकर आनेवाली किरणों को सँजो-समो सकने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है । यहाँ से हिन्दी-कविता को नई भाषा, नई शैली मिली है :-

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है , दीवाना है ।
लोग हैं, महफ़िल है
नग़मे हैं, साज हैं, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है
चूँकि यहाँ दाना है

प्रकृति-चित्रण में ऐसा यथार्थ-

भरा हुआ तालाब,
खेलती हैं मछलियाँ
पानी की सतह पर
पूँछ पटकती हुई ।

x x x

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई
गहरे अंधेरे का डेरा था ।

निराला की कविता में ही नहीं, हिन्दी-कविता में पहली बार प्राप्त हुआ ! आगे चलकर ग्राम्या में पन्त ने 'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?' लिखा पर यह निरलंकारता अपने में अप्रतिम रही ।

यों तो कब न निराला ने नए-नए बीज बोए, पर परती पड़ी जमीन के गोड़ते, खाद देते जाने के कारण अब पौदे उग-उगकर लहराने को मचलने लगे थे । देव-दुर्लभ मानवता रक्त-मज्जावाले आदमी की सूरत में ढल चली थी, हृदय के अमृत में आँसू, पसीने और खून की सर्दी-गर्मी भी घुलने लगी थी । और निराला ने कुकुरमुत्ता, बेला और नए पत्ते में धरातल बदल दिया । नई जिंदगी के पाँव के नीचे जमीन टटोलते और अपनी नई कविता के लिए नए प्रतीक और प्रतिमान गढ़ते हुए निराला ने यह गुर पा लिया था-

'स्वार्थ के अवगुण्ठनों से हुआ है लुण्ठन हमारा !'

x x x

'जमींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं;
जग के समूर्त पिशाच-धूर्त-गण गनी हुए हैं !'

x x x

'खुला भेद विजयी कहाये हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं !

हर सैरगाह मे आदमी के खून के फव्वारे आकाश-गंगा-संगम के लिए जैसे अविच्छिन्न उर्ध्वमुख हो रहे थे; धुँधलका रक्ताक्त धरती का काले रंग का बुर्का हो रहा था जिसके भीतर के करुण-कातर नयन मटमैली बूँदें उगल रहे थे और निराला नई कविता सिरज रहे थे-

विशेषता के गले नीच की छुरी जो चली,
गुलाब जैसा खिला, रक्तिमाभ शान हुई !

x x x

सफाई कट गई है चाँद की भी,

जुही के उसने जो जोबन टटोले;
गई पत देवता-पति की, कि उसने,
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले !

x x x

जमाने की रफ्तार में कैसा तूफ़ां,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं !

x x x

जिन्होंने ठोकरें खाईं गरीबी में पड़े, उनके
हजारों-हा हजारों हाथ के उठते समर देखे ।

x x x

गगन की ताकतें सोईं, जहाँ की हसरतें सोईं,
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे में अगर देखे ।

निराला की विविध वृत्तियों का मोटे तौर पर वर्गीकरण करना हो तो पहले हम उन्हें दो वर्गों में बाँट लें-आत्म-निष्ठ वृत्तियाँ और समाज-निष्ठ वृत्तियाँ । उनकी काव्य-साधना में यह द्विविधता प्रारम्भ से ही प्राप्त होती है । परिमल की दीन, भिक्षुक, विधवा, बादल आदि कविताएँ जैसी हैं, वैसी गीतिका में भी हैं, अनामिका, तुलसीदास और अणिमा में भी । इसी प्रकार बेला और नये पत्ते में भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति नहीं छूटी है । यह रहस्य-दर्शन और समाज-चेतना कवि के एक ही उत्स की दो धाराएँ हैं । वह उत्स है मानवता से अपार प्यार । वह मानवता के उन्नयन के लिए भूमि और आकाश-दोनों का सहारा लेता है । यह सच है कि १९१६ से ४० तक की रचनाओं में आत्मनिष्ठवृत्तियाँ मुखर हुई हैं और '४० से अब तक की रचनाओं में सामाजिक प्रवृत्तियाँ । किन्तु उन्होंने पंचवर्षीय अथवा पंचसूत्रीय योजना बनाकर ऐसी विभक्त वृत्तियाँ कदापि व्यक्त नहीं की हैं । यह उनकी सहज वृत्ति-व्यक्ति है । युद्ध की पृष्ठभूमि में कहा जाय तो यह कहना होगा कि प्रथम महायुद्ध ने उन्हें दार्शनिक दृष्टि दी थी और द्वितीय ने सामाजिक दृष्टिकोण । यह आत्म-विरोध नहीं, वृत्ति समुच्चय है । मानवता को केन्द्रित कर जड़-चेतनवादों का कण्ठाश्लेष है ।

पराजय और पलायन के चिह्न निराला में नहीं हैं, इसका कारण पहले अपने ऊपर अखण्ड विश्वास, फिर जनता की शक्तियों पर अटूट आस्था ही है ।

परिस्थितियों से घबरा कर भागो नहीं, उनका उलटकर, मुकाबला करो, निराला की कविता में यह भाव सर्वत्र व्याप्त है-

खींचे बगैर नभ से झरता नहीं शिशिर-कण;
तेल, आँच जब न खाया, निकला कब आँवले से ?'

x x x

'आँख से आँख मिलाओ, उनका डर छोड़ो !'

x x x

'राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जब तक न कर,
चैन मत ले, गैर को बरबाद तू जब तक न कर ।'

'पास ही रे हीरे की खान' आदि दार्शनिक गीत भी ऐसे ही हैं । इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग का युद्ध-चित्र प्रस्तुत करते हुए निराला ने जहाँ भौतिकवाद के अमंगल स्वरूप पर प्रकाश डाला है* वहाँ भी उनका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी नहीं है अन्यथा 'रोक रहजन को प्रगति का, फेर से, बाधक जो है, दरबदर भटका उसे, मर्याद तू जब तक न कर', वह क्यों लिखते ? इसलिए यहाँ श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों को दुहराना आवश्यक है- इनसे आपाततः परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले निराला के अनेक स्तरों का सामंजस्य संकेतित होता है :-निराला जी पर विवेकानन्द जी द्वारा लिए वेदान्त के उपनिषद्-आधार का प्रभाव अधिक है, शंकर का कम, क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञान के लिए उतना नहीं है जितना समाज के लिए है, शंकर में निरपेक्षतावाद अधिक है जबकि निराला में ज्ञान की सापेक्षता अधिक पाई जाती है । शाश्वत ब्रह्म-आत्मा की अनुभूति

---

* आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौन जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष्य में मानव के, जल, स्थल, अम्बर
रेल तार-बिजली, जहाज, नभयानों में भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण ।
-अणिमा : भगवान् बुद्ध के प्रति

अस्थिर मायामय जगत् के विरुद्ध नहीं पड़ती है और जब मानवता की मुक्ति का अन्तर्नाद कवि में प्रबल हो जाता है तो वह अपने सबसे बड़े प्रलोभन अपवर्ग और अधिवास को भी छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, यद्यपि उसका विश्वास यही है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य नदी के समान उसी चेतना-सागर में मिल जाना है, ताकि पुनः इन बन्धनों में न पड़ना पड़े । अर्थात् कवि जन्ममरण के बंधनों से मिलनेवाली मुक्ति को टाल सकता है, किन्तु जन-जीवन की विषमता, पीड़ा, दु:ख, दीनता को सहन नहीं कर सकता ।

इसीलिए निराला अद्वैतवादी भी हैं, द्वैतवादी भी; भक्त भी और ज्ञानी भी; पुनरुत्थानवादी भी और क्रान्तिकारी भी, लौह-प्रहार तथा ललकार भी और आत्म-परमात्म मिलन की मधुर झंकार भी । वह वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वर्ग में विचरनेवाला मुक्त विहग भी है और पतनोन्मुख रूढ़िप्रिय संस्कृति की विहग-बालिका के लिए भयंकर बाज भी; उसमें लौकिक प्रेम की ललक भी है और आध्यात्मिक भूमि पर अनुभूति का आत्मपुलक भी; निराला विरोधों का स्वयं सामञ्जस्य और सामञ्जस्यों का विरोध है । अतः अन्य विरोधों को देखकर जो समझते हैं कि निराला किसी एक विचार-दर्शन का कवि नहीं-एक निश्चित विचार-सरणि का स्रष्टा नहीं, वे सोचने से इन्कार करते हैं ।

काल-क्रम से 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन 'अणिमा' से पहले हुआ था । आज तक की निराला की काव्य -साधना को यदि तीन भागों में विभक्त करें तो 'जुही की कली' से प्रथम भाग का प्रारम्भ माना जायगा; 'कुकुरमुत्ता' से द्वितीय भाग का; अर्चना से तृतीय भाग का । इस समय तक भाषा और भाव के क्षेत्र में विश्वसाहित्य में नई-नई उत्क्रान्तियाँ होने लगी थीं । प्रबुद्ध निराला का काव्य भला कैसे अछूता रह जाता ! प्राचीन संस्कारों की दीवारें ढहकर 'कुकुरमुत्ता' में समतल बन गई हैं । 'बेला' और 'नए पत्ते' में कवि का जो जनवादी रूप प्रकट हुआ है, उसे आँकने के लिए 'कुकुरमुत्ता' को परिपाटी की पाटी धो-पोंछकर साफ करनी पड़ी है । 'कुकुरमुत्ता' असंस्कृत सामान्य का प्रतीक है, जो अपने चारों ओर के स्वाभाविक प्राकृत वातावरण से बल लेकर विकास को प्राप्त होता है । कुकुरमुत्ते की कलम नहीं लगती, वह उगाया नहीं जाता । इसी तरह सामान्य मानवता स्वतः विकसित चीज है । वह नक़द है उधार नहीं ।†

---

† डा० भटनागर

'कुकुरमुत्ता को निराला जी ने दीन-हीन शोषित जनता का प्रतीक माना है और गुलाब को शोषक अभिजात वर्ग का । इस रूपक में परम्परागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्दचित्र आदि सब विलीन हो गए हैं और एक नई कला का जन्म हुआ है । यह कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है, इसमें रूप, रस, गन्ध आदि की कमी है, यह भावों की सुकुमारता से नहीं गुदगुदाती, पाठकों को सोचने के लिए विवश करती है । 'कुकुरमुत्ता' के समान ही इसकी एक सामाजिक उपादेयता है ।†

'कुकुरमुत्ता' के व्यंग्य के व्यंग्यकारों में ऐकमत्य नहीं है । एक विविधता मैंने भी जोड़ दी है । मैंने 'मित्र के प्रति' कविता का ही दूसरा रूप 'कुकुरमुत्ता' को बताया है । इस प्रकार 'कुकुरमुत्ता' स्वयं कवि का प्रतीक सिद्ध होता है । 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक हिन्दी की एक ऐतिहासिक (मूल्य रखनेवाली) कविता है ।

'बेला' के आधे गीत गीतिका की शैली और कोटि के हैं । अवश्य इनमें गीतिका का रस नहीं है । रहस्यानुभूति अधिक दुरूह हो गई है जिसका अर्थ यह है कि कवि की मानसिक ग्रन्थियाँ क्रमशः जटिल होती गई हैं; किन्तु शेष आधे गीतों (ग़ज़लों) में इसके विपरीत, प्राञ्जलता अधिक है जब भी ये नए गढ़न की चीजें हैं-व्यंग्यों की चुभन, अभिव्यक्तियों का नुकीलापन, अलग-अलग बहरों की गजलों में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग, सब कुछ नवीनता लिए हुए ।

'बेला' में परिमार्जना दिखती है, 'कुकुरमुत्ता' का अनगढ़पन यहाँ नहीं । निराला के सफलतम गीतों में से कुछेक-

रूप की धारा के उस पार कभी धँसने भी दोगे मुझे ?
कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में आते हो, जाते हो !

x x x

हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन !

x x x

'बेला की ही देन हैं । ऐसे ही सन् '४२ की जनता की कुण्ठाओं का चित्रण कजली और लोकगीतों की तर्ज में अत्यधिक प्रभावोत्पादक हुआ है । वस्तु-विस्तार के साथ नई शैली की स्वस्थ चित्ररेखा 'बेला' में मिलती है । यह कहना तो पिष्ट-पेषण ही होगा कि नई कविता के लिए नई राह निकाले बिना निराला का कोई काव्य-संग्रह नहीं निकला, फिर 'बेला' तो युग-सन्धि की रचना है !

† प्रकाशचन्द्र गुप्त

'नये पत्ते' में 'कुकुरमुत्ता' के '४२ वाले संस्करण की सारी रचनाएँ आ गई हैं, जिनमें 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्स' आदि रचनाएँ उत्कृष्ट व्यंगविनोद के लिए सुप्रसिद्ध हैं । 'देवी सरस्वती' संग्रह की एक विशिष्ट कला-कृति है । 'कैलाश में शरत्' अवचेतन मन की अद्‌भुत देन है । 'स्फटिक शिला' अपने चरम-विन्दु के लिए चर्चा में आई है, किन्तु भावना की उठान और आकस्मिक मोड़ के कारण वह रस और मनोविज्ञान की द्वन्द्वात्मक भूमि पर खड़ी अकेली कला-कृति है । शेष रचनाएँ जनवादी काव्य का प्रतिनिधित्व करती हैं ।

अध्यात्मवाद और समाजवाद के समन्वय की दिशा में 'अर्चना' निराला का नूतन अभियान है ।† यहाँ व्यक्ति और अभिव्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, वस्तु और रहस्य का मिलन हुआ है । पारिभाषिक शब्दों के साँचे में ढला हुआ मिलन नहीं; पुस्तकीय ज्ञान के मकड़ी-जाले से ढका हुआ मिलन नहीं; मानवता के विराट् और व्यापक विकास के क्रम में जीवनानुभूतियों का बन्धुभाव से मिलन । ऐसा लहर का लहर से सम्बन्ध-बन्धन जीवन की अगाधता का निदर्शक है ।‡

एक महाकाव्य को नाना चरित्रों के माध्यम से महाकवि अपनी भावना-तरंगों का चेतना-समुद्र बनाता है । शताब्दियों की परम्परा से पाठक वैसे समस्त भावावेगों का एकायन करता आ रहा है । मूर्त पात्रों का माध्यम वहाँ एक बार भी अन्तर्विरोध की शंका नहीं उत्पन्न करता । शंका से भी पहले वहाँ समाधान मिलता आ रहा है । इलियड और ओडेसी, रामायण और महाभारत-सब में अनुस्यूति है; तारतम्य है, केवल निराला के गीतों में -परिमल से अर्चना तक के स्वरों में संगीतात्मक आरोह-अवरोह की संगति नही समझ में आती, इसका कारण गीति-काव्य के मात्रस्थानीय भावों से साक्षात् परिचय का अभाव नहीं तो और क्या हो सकता है ।

व्यष्टि निराला लघु-गुरु गीतों की समष्टि नहीं, जीवन की समग्रता के रसभावों से भरा हुआ महाभारत-सा महाकाव्य है ।

जनवरी '५४

---

† श्री दामोदर ठाकुर के शब्दों में-

...........कविताएँ छोटी हैं पर न उनकी बात छोटी है, न उनकी भाषा हल्की है और न उनमें कोई जल्दी है या किसी चीज के छूट जाने का भय मालूम होता है । ये कवि की सामर्थ्य और मर्य्यादा की कविताएँ हैं ।

‡कुछ भावों को बाँधनेवाला एक भाव कविता में होता है जो कविता के अन्त में प्रकट होता है-कवि उसकी बात नहीं करता, लेकिन खोज उसकी रहती

है। कवि अपने भावों से अपनी अवस्था बनाता है । अपनी दशा की उधेड़-बुन में जीवन की जाँच करता है । इस तरह जीवन की कुछ अवस्थाएँ और भाव कवि के अपने हो जाते हैं । जो भाव सबके लिए खुले हैं उन पर अधिकार करने में कवि की शक्ति का परिचय है । जो भाव सबके हैं, उनमें कुछ कोलाहल और जनरव का अंश होता है; किसी सुननेवाले और किसी सुनानेवाले का भाव होता है; भावना पैदा करने का विचार और प्रयत्न दिखाई देता है ।

इन कविताओं के छोटे होने में जीवन के विकास का क्रम है । कभी-कभी मन इतना लीन हो जाता है कि भाषा और भाव दोनों अपने आप में सिमट जाते हैं । एक ओर देखते हैं, एक तरह की दशा में रहते हैं और रागात्मक आन्दोलन इतना सम और सन्तुलित हो जाता है कि जीवन की धारा एकरस बन जाती है, जीवन के अनेक रंग शान्त स्रोत में लीन हो जाते हैं ।

-'निराला के कुछ भाव'

जनवरी '५४

—o—

भक्त कवि निराला

हिन्दी की काव्य-कला को निराला ने नित-नए सुरों से मुखर किया था। अनासक्ति ऐसी थी कि जिस मुक्त छंद को स्वीकृति दिलाने के लिए वह वर्षों लड़े, अन्तिम दिनों में उसे कतई छोड़ दिया था। वह आवृत्ति मात्र के विपक्ष में थे, अपनी आवृत्ति करते रहना भी उनकी उर्वरा उद्‌भावना-शक्ति को असह्य था।

'परिमल' के मुक्त छन्दों के प्रतिष्ठित होते ही, 'गीतिका' के माध्यम से, उन्होंने लय-ताल-निबद्ध शास्त्रीय गीत प्रस्तुत किए थे। फिर 'अनामिका' में 'मित्र के प्रति', 'सरोज-स्मृति', 'दान', 'वनबेला', और 'राम की शक्ति-पूजा' ऐसी प्रौढ भाषा, भाव, छन्द की एक अपूर्व प्रवाहमयी विधा प्रदर्शित की, ऐसी कि 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' न केवल उनकी प्रतिभा की प्रतिमान कृतियाँ मानी गई, बल्कि उस युग की महत्तम उपलब्धि के रूप में उन्हें अनुपम गौरव दे गईं। विराट चित्रों और उदात्त अनुभूतियों के वह प्रतीक-शिल्पी मान लिए गए।

किन्तु निराला यहाँ भी कायम नहीं रहे। 'कुकुरमुत्ता' लिख कर उन्होंने 'राम की शक्ति-पूजा' के प्रशंसकों के कान खड़े कर दिए, फिर 'अणिमा' की अन्तिम रचनाओं द्वारा उन्होंने जमीन की सादगी ही नही दरसाई, नई कविता के लिए नई संवेदनाओं के वातायन भी खोल दिए।

'वेला' में उच्चकोटि के गीतों के साथ गजलें भी पिरो दीं; 'नए पत्ते' में सामाजिक चेतना के जनवादी धरातल उभारे और फिर अन्तिम दिनों में 'अर्चना', 'आराधना', 'गीत-गुञ्ज' तथा शेष गीतों में ज्ञानी -भक्त कवियों की परम्परा को आगे बढ़ाते, भक्ति और ज्ञान की गंगा बहाते हुए दीख पड़े। क्रान्तिकारी कवि की, ऊबड़-खाबड़ विविध भावभूमियाँ पार करती हुई, तेजस्विनी काव्य-धारा अन्ततः शान्त, समतल में पहुँचकर, जैसे शाश्वत विश्राम की स्थिति में, शेष हो गई।

निराला का युग-प्रवर्तन या नेतृत्व विशुद्ध साधना का महार्घ परिणाम था। उनके जीवन और साहित्य में सन्त कवियों-सी आश्चर्यजनक एकरूपता थी। वास्तविक जीवन में आर्थिक, और सामाजिक कष्टों को उन्होंने जिस रूप में झेला, उनकी प्रबुद्ध सामाजिक चेतना किताबी या अनुकृत नहीं हो सकती। वह समकालीन (देश-विदेश की) काव्य प्रवृत्तियों के समानान्तर हिन्दी में समाजवादी विचारों को उछालने की हौंस भर नहीं हो सकती। साहित्य पढ़ कर निम्न मध्यवर्गीय समाज में उसी धरातल का जीवन-जीना फैशन नहीं हो सकता। निराला बैरक में जन्मे और एक तंग कोठरी में मरे। उनकी सामाजिक चेतना जन्म से ही जागरूक थी। छायावाद के वायव्य वितान में उन्होंने 'विधवा', 'दीन', 'भिक्षुक' की वास्तविकता देखी थी और क्रान्ति के 'बादल-राग' गाए थे। 'गीतिका' में भी यह पक्ष कहीं उपेक्षित नहीं रहा। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का 'सर्वे' करते हुए 'तुलसीदास' में भी सूत्र रूप में कुछ टिप्पणियाँ दीं। फिर 'अनामिका' में तो जैसे मेघ-निर्घोष ही सुनाई दिया :-

"मानव मानव से नही भिन्न,
निश्चय हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक !"

\+ + +

वह तोड़ती पत्थर !
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार-
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

\+ + +

पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रच कर उन पर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,
हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग !

. . .

नहीं जानती जो अपने को लिखी हुई-
विश्व-विभव से मिली हुई,
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को-
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें !

. . .

सहज सहज पग धर आओ उतर;
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर ।
    वह जो सिर बोझ लिए आ रहा,
    वह जो बछड़े को नहला रहा,
    वह जो इस-उस से बतला रहा,
    देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर ?

'कुकुरमुत्ता' 'खजोहरा', 'रानी औ कानी' के व्यंग्य आकस्मिक नहीं हैं, उनका बीज परिमल-काल में भी ढूँढ़ा जा सकता है । रवीन्द्रनाथ की 'विजयिनी' से 'खजोहरा' की और ईलियट के The love song of J. Alfred Prufrock से 'प्रेम-संगीत' की तुलना करने पर रसना का स्वाद भर नहीं बदलता । निराला की बहुमुखी प्रतिभा के एक अनदेखे शिखर का उभार दूर से ही दीख पड़ता है । 'नए पत्ते' में कुरूप और सामान्य को सुन्दर और असामान्य का दर्जा दिया गया है । लगभग सारी-की सारी रचनाएँ राजनीतिक हैं । अवश्य वे दरबारी-सरकारी कवियों-सी राजनीतिक नहीं हैं । उनके निगूढ़ व्यंग्यों में ईमान की ज्वाला है, विद्रोह की चिनगारियाँ हैं, 'पोल्सन' की कहीं गुंजाइश नहीं है । खपत की तो बात ही क्या ?

शैली और वस्तुगत जिन विविध विधाओं ने उन्हें 'समकालीनों' में 'आधुनिक' प्रख्यात किया उन नवीन उद्भावनाओं को समग्रता में न स्वीकारना नास्तिकता है । ऐसे ही उनका विश्वजनीन मानवतावादी दृष्टिकोण 'परिमल' से 'गीत गुंज' तक स्पष्ट है । व्याख्याता चाहे उसे समाजवादी सिद्ध करें या साम्यवादी, पर तर्क और युक्तियाँ उन व्याख्याताओं की निजी छाप लिए हुए हों तो अजब नहीं । मैं अपनी पच्चीस-सत्ताईस वर्षों की अपरोक्ष अनुभूति के बल पर यही दावा कर सकता हूँ कि निराला नास्तिक न थे; युक्तिवादी आधुनिक दार्शनिक भी न थे ।

वह आत्मा की अतल गहराइयों से एक भक्त-जैसे थे, अनासक्त ज्ञानी भक्त-जैसे, जिसके त्रिविध तापों की तीव्र अनुभूति हो और जो उनसे मुक्ति भी प्राप्त करना चाहता हो ।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह बौद्ध-दर्शन से प्रभावित थे । 'दुख ही (उनके) जीवन की कथा रही' अवश्य, 'देख चुका, जो-जो आए थे चले गए' का निर्वेद भी कम निविड़ न रहा, पर "मैं ही क्या ? सब तो ऐसे ही छले गए ?" की मस्ती उन्हें 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' के प्रति जागरूक बनाए रही । कारण उनका दुःख भी अनात्म न था, विभु के व्यक्त रूप विश्व की आनन्दमयता का तो उन्हें अद्‌भुत बोध था । निराला की तीव्रतम संवेदनशीलता ही जब-तब उनके चेतन-गगन में दुःखों की घन-घटा उमड़ाती थी । 'दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्'; वह दुःखवादी न थे । विपरीत परिस्थितियों में वह जीवन के उच्चतर तथा श्रेष्ठतर रूपों को पूरी प्राणवत्ता में प्रतिष्ठित न कर सकने के कारण भले ही असन्तुष्ट तथा दुःखी दिखलाई देते हों, पर उनकी दूरारूढ़ आस्था मूल में अविचल थी । उनकी अवरुद्ध शक्तियाँ भी कुण्ठित न थीं, अनन्त संभावनाओं की मूक-मुखर पुकारें उनकी उन्निद्र चेतना से प्रतिध्वनि-विहीन नहीं लौट पाती थीं ।

उनकी मानवता को वाद के दायरे में न लाना ही उचित होगा । सर्जनात्मक मानववाद हो या उच्छल उल्लासमूलक मानववाद, गुणात्मक मानववाद हो अथवा समन्वयात्मक मानववाद, निराला इनके चक्कर में पड़कर व्यग्र हुए नहीं दीख पड़ते । उनकी कृतियों में व्यक्त मानवता मानववादी सिद्धान्त-सूत्रों की व्यावहारिक समीक्षा नहीं है, उनके भोगे हुए, खोए हुए, त्यागे और लुटाए हुए की सीधी अनुभूति से उद्‌बुद्ध हुई है और समवेदना के सरल-तरल तत्त्वों से ओत-प्रोत चोट करनेवाली अभिव्यक्ति में तथारूपायित हुई है ।

इसी प्रकार - 'सुमन भर न लिए, सखि, वसन्त गया' की चिन्ता, 'एक दिन होगा, जब न मैं हूँगा' की निराशा और-

मैं अकेला !
देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य-वेला !

के एकाकीपन को लक्ष्य कर निराला में आध्यात्मिक अनास्थामूलक अस्तित्ववाद (सन्धाताओं की ओर से) कम ओज-चोज भरी न होगी, पर उसी क्षण यदि उनकी, अन्यत्र अनसुनी, ये ध्वनियाँ कर्ण-कुहर को भर सकें तो आस्था की

प्रत्यञ्चा से छूटे हुए सुवर्णा स्वरशरों से कुहरा-भरा दिशाकाश जैसे नई छवियों में खुलकर खिल उठे :-

"जानता हूँ, नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ ।"

. .

"भाव जो छलके पदों पर
न हों हल्के, न हों नश्वर ।"

डार्विन, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र के झंझावाती विचारों से विकम्पित विश्व में अकेले निराला का यह भारत कैसा है :-

"भारत ही जीवन-धन !
तपः पुंज गिरि - कन्दर,
निर्झर के स्वर पुष्कर,
दिक्प्रान्तर मर्म - मुखर,
मानव मानव - जीवन !
नहीं कहीं जड़-जघन्य,
नहीं कहीं अहम्मन्य,
नहीं कहीं स्तन्य-वन्य,
चिन्मय केवल चिन्तन !"

कहना अनावश्यक है, कम-से-कम निराला अपने इसी भारत के कवि हैं । उनकी कृतियों में धर्म, नीति-दर्शन और परम्परा का अद्भुत समारोह (यद्यपि उसी सामर्थ्य से पाषाणी कारा तोड़कर आगे बढ़ने का सबसे साहसी कदम उन्हीं के गर्जित-जीवन-निर्झर ने उठाया था । यह विरोधाभास नहीं, समन्वय है, अनेक पगडंडियों से चलकर एक लक्ष्य पर पहुँचने का सफल प्रयास । ऐसा ही समन्वय गीता और रामचरितमानस में भी है । सर्वत्र ही भौतिक आध्यात्मिक सोपानों से बँधा है । यदि यहाँ झोल है तो मैं दावा करता हूँ, वहाँ भी है । यदि वहाँ नहीं है तो यहाँ भी नहीं है, यह निश्चित है ।) है ।

तभी निराला ने लिखा :-"हूँ दूर, सदा मैं दूर !"

मैं किसी संकीर्ण दायरे का कायल नहीं हूँ, विराट को क्षुद्र में न ढूँढ़ा जाय; धर्म सम्प्रदाय नहीं है; जीवन जीना भर नहीं है, ज्ञान अज्ञान का अभाव

मात्र नहीं है; कोई मुझे अपनी हथेली का आँवला न समझे; मुझे करीब से क्या देखना ? मैं स्थूल से सूक्ष्म की ओर और अणु से विराट की ओर बढ़ता चला गया हूँ । काया और माया की निकटता को पारकर आलोक के अनन्त प्रसार में-उच्चतर और बृहत्तर जीवन की असीमता में मुझे ढूँढ़ना चाहिए !-'हूँ दूर सदा मैं दूर !'

तू तो कल्लोलिनी की कला देख रहा है, जल की कलध्वनि सुन रहा है ! तभी चेतना के अनन्त-विस्तार सागर में जीवन की उत्ताल तरंगों का उत्थान-पतनाघात अनदेखा रह गया है!

फूलों की भीनी-भीनी गन्ध जो झीनी-झीनी हवाओं में तैरती है, तू उसी के सुख का अनुभव करता रहा ! तभी ऊर्म्मि-घूर्णित झञ्झावात, खनखनाती पत्तियाँ उड़ते; धूल के गुब्बारे उछालते, चक्कर काटते, अन्धड़ और हड्डियाँ छेद कर पार कर जाने वाली बर्फीली हवाओं में फैली हुई तीव्र तीक्ष्ण गन्ध की विविध विधाएँ अनसूँघी ही रह गई हैं ।

आलोक का खेल भी देखा तो बस चंदा और चाँदनी की आँख-मिचौनी का । अरे मरु की रेत में दहकती हुई धूप भी देखी होती और नहीं , प्रचण्ड मार्तण्ड की आग्नेय किरणों की स्फुलिंग पिंगल कुञ्ज-क्यारियों में खिलखिलाता हुआ एक कोमल कमल को ही देखा होता ! पर तू कायर नहीं-नहीं, बहादुर जो ठहरा, बस लघु-लघु लहरों, कोमल कलरव, मीठी गन्ध, चन्दा और चाँदनी ही में बहता रह गया; और यह सब कुछ यों भूल कर, विभोर हो कर देखता रहा है कि मैं कहीं नहीं दिखा !

कल्लोलिनी - कला, जल-कलरव
सुमन-सुरभि, समीर-सुख-अनुभव,
कुमुद-किरण-अभिसार-केलि नव-
देख रहा तू भूल, - शूर !
हूँ दूर, सदा मैं दूर !!

जैसे दूधिया भाषा और अंगूरी भावों के सहारे निराला ने गीत नहीं लिखे, जिस कारण गीतिका के-

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को

नव पर, नव स्वर दे !

x x x

लंका पदतल - शतदल
गर्जितोर्म्मि सागर - जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे !

x x x

मेरा दुख अरण्य, किसलय - दल-
ज्वाल, जली काली तुम कोयल,
दैन्य - डाल पर बैठी प्रतिपल
सुना रही हो तान !
व्यर्थ मैं पाता हूँ, सम्मान !!

-ऐसे रस-भाव-भरे उदात्त गीतों को 'ठूँठ' कहा गया, उसी प्रकार भक्त कवि निराला की भक्ति भी असाम्प्रदायिक थी, उसे शैव, गाणपत, सौर, वैष्णव - किसी भी साम्प्रदायिक कोठे में नहीं अटाया जा सकता । यों उनमें कबीर का फक्कड़पन भी था, तुलसी का शील भी, सूर का रस भी था, मीरा की वेदना भी । किन्तु वह हू-ब-हू किसी के रूपान्तर न थे । शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क का ज्ञात-अज्ञात प्रभाव उनमें ढूँढ़ा जा सकता है, पर ऐसे ही शाक्त धर्म-दर्शन की ज्योति-ज्वाल भी उनके पञ्चप्राण-प्रदीप में पाई जा सकती है । दिल बहलाने के लिए उनके दो कर्म-क्षेत्रों के संस्कार बंगाल के रामकृष्ण-विवेकानन्द और अवध के तुलसीदास से ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं पर कुल मिलाकर निराला निराले भक्त थे, यही कहना उचित प्रतीत होता है । बहुतेरे छोटे गीतों से लेकर 'पञ्चवटी' 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' तक उनके एक प्रकार के भाव लक्ष्य किए जा सकते हैं, 'यमुना के प्रति' से दूसरे प्रकार के और मातृरूप में वन्दित छन्दों में तीसरे प्रकार के । भौतिक अतिशयता के इस वैज्ञानिक युग में रस्किन और टाल्सटाय क्या, रामधुन और प्रार्थना के आग्रही गाँधी विनोबा के समान वह 'आधुनिक' के निष्प्राण प्राण यन्त्र में 'परम्परा' के अमृत-मन्त्र गुञ्जित करते जान पड़ते थे । बस केवल पंथ-पंथ के भेद से वह अन्यों से भिन्न प्रतीत होते थे । 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।'

मन की निर्विशेषता अकल्पित है । चाहे वह जड़ से जुड़े, चाहे चेतन में

लहरे । निराला गौतम की मुक्ति नहीं चाहते थे । उनका ज्ञान अकर्मण्य न था । इस कारण-

"यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीर-बन्धः ।"

वह भरत की भाँति एक हिरने के छौने के लिए आत्मज्ञान के उच्चतर शिखर से उतर कर संवेदना की सजल घाटियों में भूखे-प्यासे विचर सकते थे :-

"मैंने 'मैं' - शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई ।
उसकी अश्रु भरी आँखों पर मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श ।"

तभी उन्होंने कहा-

सलिल-प्रवाह में ज्यों बहता शैवाल-जाल
गृह-हीन, लक्ष्य-हीन, यन्त्र-तुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम महासागर से
हृदय खोल - मुक्त होता,
मैं भी त्यों त्याग कर सुखाशाएँ
घर-द्वार - धन-जन,
बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में;
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है ।"

'परिमल' के प्रारम्भ में कवि की प्रार्थना है कि अरी ओ ज्योतिर्मयी, अगजग में जो तम का वितान तना हुआ है, उसे तुम अपनी ज्योति से जगमग कर दो; तुम हल्के पाँवों हौले-हौले, जीवित होकर भी निर्जीव-से जड़, तरु-तृण-गुल्मों की इस धरती पर उतर आओ और जिन गैलों, वीथियों, पगडंडियों से गुजरो, उन पर फूलों की, सुगन्ध की किरणों की हँसी बिखेरती आओ, जिससे सब समझें, तुम इन्हीं आलोकित लकीरों से होकर आई हो; जड़ों और जीवन्मृतों में तुम्हीं नया जीवन, नई आत्मा प्रतिष्ठित कर रही हो !

अरी, यह तो तुम्हारा बार-बार का किया हुआ उदार उपकार है । जब-जब जड़ता जग-जीवन को आक्रान्त करती है, तुम प्रिय और कोमल पदों

से धरती पर उतरती हो, झञ्झा की तरह झकझोरती और वज्र की तरह कड़कती हुई नहीं, बल्कि हल्के-हल्के, अणु-परमाणुओं के सन्धि-रन्ध्रों तक को गुदगुदाती हुई ।

(छाती पर लात मारकर कोई प्राणागार में प्रवेश भी तो नहीं पा सकता ! ज्योति की तन्वी मृदु पदों से, मन्द-मन्थर गति से चलेगी ही ।)

एक बार फिर वैसा ही करो ।

मैं तुमसे वीरान-बंजर में जुही की कली खिलाने नहीं कह रहा ! जहाँ ये बेलें पहले से मचल रही हैं; जहाँ यह घास पहले से ही दूर-दूर तक पसरी-पसरी, फैली-फैली हुई है, जहाँ ये पेड़ जाने कब से गड़े खड़े हैं, मैं तुम्हें वहीं से आमन्त्रित कर रहा हूँ । बात यह है कि हैं तो सब, पर ये अपना अस्तित्व भर जुगोए हुए हैं; अर्थवत्ता भूल गए हैं, इनका यह निर्विशेष जीना नई जीवन-ज्योति पा जाए, इनके बने रहने में नया बनाव-शृंगार आ जाए, यदि तुम आ जाओ ।

अरी, यह तो कोई 'वक्र: पन्था:' नहीं, तुम्हारे सदा से आने-जाने का अपना ही पथ है । इधर सदियों से नहीं आई, इस कारण फूल कुम्हला गएं हैं; मखमली घास पर धूल जम गई है । तुम एक बार आई नहीं कि धुँधलका छँटा, किरणें बिछलीं, सुगन्ध की लपटें उठीं !

जग ने अपने लिए बहुत से पंथ-कुपंथ ढूंढ़ लिए हैं, सिर्फ तुम्हारा रास्ता वह भूल गया है । उसके नाना पंथों पर उसी के आविष्कृत अज्ञान का अन्धकार फैल गया है । तुम ठहरीं ज्योतिर्मयी, इस अलौकिक आलोक में 'एक' दिखे तो अनेक का भ्रम मिटे । तुम हँस-हँसकर अपना आलोक-पथ दिखला दो, फिर देखो, उसकी विविध शाखा-प्रशाखाओं में फैली हुई निर्व्यवसाय बुद्धि की जड़ता कैसे अपने आप कट जाती है ! क्यों न तुम उसमें नई उमंग-तरंगें जगा देतीं ? उसे लक्ष्य का बोध करा, उसमें नई प्रबुद्ध चेतना भर देतीं ? मेरी प्रार्थना पर कान दो, प्राण-भूमि पर भूमा की ज्योति-धार एक बार फिर बरसाओ । यदि शंकर की प्रलयंकारी तीसरी दृष्टि खुले तो पथ आलोकित ही न हो, जल भी जाए !

ठीक है कि वह ज्ञान की आग होगी जिससे कर्म की रजोमय पगडंडियाँ लहकेंगी, जलकर क्षार हो जायँगी, किन्तु मेरी यह प्रार्थना तो नहीं है । मैं तुम्हारी ज्वलित दृष्टि का नहीं, आनन्दमयी हँसी का प्रार्थी हूँ । तुम्हारी हँसी आलोक

फैलाए - प्रिय प्राणस्पर्शी प्रकाश, मेरी यही प्रार्थना है । मैं नित-नूतन जीवन का आकांक्षी, अमरण मरण क्यों चाहूँ ?

हँस-हँस कर ही तो ! तुम सोचती होगी, प्रार्थियों के मारे हाट-बाट पार करना कठिन है; ये मँगते एक दूसरे को ठेलते धकियाते बढ़े चले आते हैं; प्रार्थनाओं की आपाधापी मची हुई है, जैसे मैं कुछ समझती ही नहीं ! नहीं-नहीं, ज्योतिर्मयी, तुम्हें काहे की जल्दी है ! तुम निरूद्वेग मन्द-मन्थर गति से मुझ-जैसों की आकुल प्रार्थनाओं की खुली-फैली झोलियों में हँसी के कुछ कण छोड़ती-छिड़कती हुई अपनी राह चलती चली जाओ ! मैं तुम्हें तुम्हारे कर्त्तव्य की याद नहीं दिलाता, तुम क्या भूलनेवाली हो ? मैं तो अपना ही कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूँ । दखल नहीं दे रहा, प्रार्थना कर रहा हूँ :-

जग को ज्योतिर्मय कर दो !
प्रिय कोमल-पद गामिनि ! मंद उतर
जीवन्मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो !

डा० देवराज-ऐसे कृत-विद्य कवि और आलोचक इस ऐसी ज्योतिर्मय, किरणमयी का अर्थ नहीं समझते । वह अपनी असमर्थता को सर्व-समर्थ कलाकार की असमर्थता बतलाते हैं । वह प्राच्य-पाश्चात्य दर्शनों के स्वीकृत अध्येता जो हैं, उन्हें कोई ऐसी ऊटपटांग कविताओं को दार्शनिक कहकर कैसे चरका दे सकता है ? रहस्यवाद की तो 'खैर' यहाँ गुंजाइश है भी नहीं । न गगन-गुफा में अजस्त्र स्वर झर रहा है, न चदरिया ही झीनी-झीनी बीनी जा रही है । इस कारण वह 'प्रार्थना' शीर्षक, निराला की, भक्ति-रसप्लुत महान् गीत-कविता को निरर्थक शब्दाडम्बर कहकर चलता कर देते हैं । काव्य-कला का कोई प्राथमिक विद्यार्थी भी अपनी असमर्थता को इस सामर्थ्य से कदाचित् ही व्यक्त करता ।

कवि प्रार्थना करता है :-

"जीवन प्रात-समीरण-सा लघु, विचरण-निरत करो !
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता छवि-मधु-सुरभि भरो !!

डा० देवराज के शब्दों में - 'पहली पंक्ति साफ है, दूसरी पंक्ति घण्टों सिर खरोंचने पर भी समझ में नहीं आती' । अवश्य वह यह नहीं बताते कि

पहली पंक्ति कैसे साफ है और दूसरी क्यों घंटों सिर खरोंचने पर भी समझ में नहीं आई ! मैं समझता हूँ, वस्तु की दुर्बोधता उसकी निराधारता नहीं प्रमाणित करती।

जो कवि अपना जीवन सुबह की हवा की तरह हल्का, दूर-दूर तक फैल जाने वाला चाहता है, जो प्रात-समीरण के हल्केपन और उसके स्वस्थ प्रवेशकारी गुण, एवं 'चरैवेति' की-सी तीव्र प्रसार-शक्ति का साक्षात्कार करता हुआ अपने अद्‌भुत सौन्दर्य्य-बोध का मौलिक परिचय दे रहा है, वही तरु-तोरण-तृण-तृण की छवि-मधु-सुरभि-भीनी सहज, सुन्दर, स्वस्थ कविता को हल्के बहते प्रात-पवन से अपने प्रसारकामी जीवन में भरने की प्रार्थना कर रहा है ।

सुबह की हवा टटके खिले फूलों की शबनमी गन्ध भरकर दूर-दूर तक बहती और ज़र्रे-जर्रे को तरोताजा कर देती है । कवि चाहता है, उसका जीवन भी उसी सुबह की हवा-जैसा हो, जो प्रकृति के अणु-परमाणुओं तक की छवि उतार ले, मिठास और खुशबू भर ले और उसे सम्पूर्ण वातावरण में बिखेरता हुआ दूर-दूर तक फैलाता चला जाय ! यह जो तरुओं के पल्लव-कुसुम-गुम्फित बन्दनवार से हरी घास की एक-एक पत्ती तक की छवि, मधु, सुरभि है, वह उसे ही कविता कह रहा है । छवि, मधु, सुरभि उसकी सौन्दर्य्य-सर्जक दृष्टि में तरुतोरण-तृण-तृण की कविता ही है जिसे वह अपने उन्मुक्त, अकुण्ठित कवि-जीवन में सहज ही समो लेना चाहता है । जीवन पवन है जो छवि-मधु-सुरभि भरकर बहना चाहता है; व्याप्ति की सामर्थ्य रखनेवाला संक्रमण-शील 'कवि' -जीवन है तो वह प्रकृति के विराट से सूक्ष्म तक का कवित्व न केवल आत्मसात् करना चाहता है, प्रत्युत उसे मानवीय परिवेश में एक ओर से दूसरे छोर तक फैला देने का प्रार्थी भी है ।

चली सुभग कविता सरिता-सी
राम-विमल-जस-जल-भरिता सी

में कविता के सहज प्रवाह को चाहे जैसी सुन्दर व्यञ्जना मिली हो, पर दूसरे किस कवि ने अपने रूप-रस-गन्ध-भीने उच्छ्‌वास को जीवन की व्यापकता में उड़ान भरनेवाली ऐसी पवन-पंखी वाणी दी है ? नाद तथा शब्द के ऐसे गुँथे-से व्यञ्जक प्रयोग का प्रयोजनीय चमत्कार दिखलाया है ?

अंचल-सा न करो चंचल, क्षण-भंगुर,
नत नयनों में स्थिर दो बल, अविचल उर !

डा० देवराज कहते हैं, 'अञ्चल-सा न करो 'चञ्चल' यह तो ठीक है, पर क्षणभंगुर विशेषण की क्या सार्थकता है ? अञ्चल में क्षणभंगुरता की प्रतीति विशेष रूप से नहीं होती !'

विदित हो कि क्षणभंगुर पृथक् विशेषण है और वह भी अञ्चल का न हो कर उसी जीवन का है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है ।

'किरणमयी' चिरयुवती है (-''न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति''; ऋग्वेद की उषा की तरह -''एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः ''), यह उसके अञ्चल की चञ्चलता से व्यञ्जित होता है । कवि कहता है, तुम मेरे जीवन को अपने लहराते हुए आँचल की तरह, उत्थान-पतन या चढ़ाव-उतार के द्वन्द्व से अशान्त न करो और न उसे क्षणभंगुर ही बनाओ कि वह संस्पर्शज क्षणिक सुख भोगकर शीघ्र ही सदा के लिए समाप्त हो जाए । सुस्पष्ट शब्दों में : उसे निर्द्वन्द्व, शान्त और अमर बनने का वर दो !

मैं समझता हूँ, अब विशेषण की सार्थकता पानी की तरह साफ हो गई होगी ।

पूरी-की-पूरी कविता को ही निरर्थक शब्दाडम्बर कहने के साहसी डा० देवराज का आगे की पंक्ति पर यह अन्तिम अहृदय, असाहित्यिक आरोप है कि 'नयनों के नत' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट नहीं है ।

अब कोई ऐसी दिव्य दृष्टि को क्या कहे ? आराध्या के प्रति प्रणति या भक्ति-भावना के अतिरिक्त नयनों की नति का दूसरा क्या कारण हो सकता है ? हाँ, इस प्रणति में आर्त की विह्वलता नहीं है, ज्ञानी की उदात्त आकांक्षा है :

''बाँधी मूठ मैंने संचय की चिन्तना से,
मुद्रा दरिद्र की है, तुमने किया इशारा !''

के तेजस्वी का अपराजेय पौरुष है । तभी वह कहते हैं-

'नत नयनों में स्थिर दो बल, अविचल उर' । कि मेरे भक्तिनत नयनों में शाश्वत शक्ति दो; मेरे मन को दृढ़ निश्चयी एवं अटूट निष्ठावान् बनाओ ! कि मेरे नयन हीनता की भावना से, कदर्यता से या संदिग्ध प्रकाश की ग्लानि से झुके हुए न हों प्रत्युत जैसे विद्या विनीत बनाती है अथवा फूल-फलों से लदे हुए विटप विनम्र हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम्हारी अनपायिनी भक्ति से नत मेरे इन नयनो में अपने उन्नत स्थायी प्रकाश का बल दो । साथ ही, ('चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि' के रूप में सर्व-विदित) चल-विचल होते रहने वाले मन को

अविचल कर दो ।

श्वास उच्छ्वास के हल्के झकोरे से भी खुलने और बंद हो जाने वाले नयन जैसे भीतर से खुलने वाले मन के बाहरी वातायन हैं । और मन संकल्प-विकल्पात्मक होने के कारण धड़कनेवाला, चिर चञ्चल है । नयन-मन की इस बाहरी चञ्चलता में पहले बाहरी और फिर भीतरी का कलात्मक क्रम लक्ष्य करने के योग्य है । मन की अटूट आस्था ही नयनों का स्थिर बल हो सकती है; किन्तु मन को देखने का क्या उपाय है ? अतः नयनों में झाँककर मन की झाँकी लेनी होगी ।

'स्थिर बल' और 'अविचल उर' आध्यात्मिक उन्नयन से ही उपलब्ध हो सकता है, कोई इसे भौतिविकास में ढूँढ़ कर न भटके; बिजली की कौंध से चकाचौंध में न आए; प्रभुता को ही विभुता न मान बैठे, इसलिए कवि और अधिक स्पष्टता से अपनी आन्तरिकता अभिव्यक्त करता है :-

'स्वर-सा कर दो अविनश्वर, ईश्वर-मज्जित
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर, मन्दर-सज्जित !'

नाद को नित्य अतः ब्रह्म माना गया है । वह सब प्राणियों का चैतन्य है, यह समस्त चराचर-प्रपञ्च उसी का विवर्त है ।[१]

वह अद्वितीय है और आनन्दमय है :-

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ।

उस ईश्वर-मज्जित-ऐश्वर्य्य-भरे स्वर के समान मेरे जीवन को अविनश्वरता में रूपायित कर दो और उसे चन्दन-वन के नित्य-वन्दन से सुन्दर तथा पवित्र मन्दराचल की भाँति अचल एवं दृढ़ बना दो ।

ब्रह्म तो चिदानन्द, सर्वज्योति, निरंजन, ईश्वर, अद्वितीय, निर्विकार, निराकार, सर्वेश्वर, अनश्वर, सर्वशक्ति और सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसके अंश जीव की और जीव से अभिन्न जगत् की उस सम्पूर्णता की समग्र उपलब्धि का आग्रह

---

१. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदात् वचः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।

नाद से वर्ण व्यञ्जित होता है, वर्ण से पद, पद से वाणी और वाणी से समस्त लोक-व्यवहार । इसलिए यह जगत् ही नाद के अधीन है ।

शास्त्र-सिद्ध है । शुचि-सुन्दर मन्दर की-सी बद्धपरिकता कदाचित् उसी समग्रता की उपलब्धि के लिए पूर्व-तत्परता को व्यञ्जित करती है । यों तो स्वर मात्र अनिश्वर है पर कवि की प्रार्थना है कि उसका जीवन उस स्वर-सा अविनाशी हो जो प्रणव के समान ईश्वर-मज्जित है ।

जैसे विनय-पत्रिका के प्रारम्भिक पदों में प्रत्येक देवी-देवता से राम-भक्ति की भिक्षा माँगी गई है, कुछ उसी प्रकार किरणमयी देवी के ईश्वर-मज्जित जीवन की प्रार्थना प्रतीत होती है । भौतिक उद्रिक्त आकांक्षाओं के अभाव में प्रार्थना के स्वर में कहीं दैन्य नहीं है, सर्वत्र उत्तोलित उदात्तता दृष्टिगोचर होती है ।

ईश्वरत्व में डूबे हुए स्वर के समान जब जीवन ऐश्वर्य्य-सिद्धि-सम्पन्न हो तभी उसमें चन्दन-वन्दित मन्दराचल की ऐश्वर्य्य-पूर्ण निष्कम्पता आ सकती है ।

जो भी जीवन ईश्वरत्व की अडिग अटूट आस्था में अचल होगा उसमें मन्दर की अचलता और चन्दन की शुचिता एक साथ ही, निः संशय, उपलब्ध होगी-

मेरे गगन-मगन मन में अयि किरणमयी, उतरो !'

जैसे गंगावतरण के लिए धूर्जटि के जटा-जूट की व्यापक कल्पना है, उसी प्रकार यह अपार विस्तार गगन ही है जिसमें किरणमयी सहज-सहज उतर सकती है । मन की व्यापकता ही पर्याप्त नहीं है-मरु का सा धूम्र, रेतीला प्रसार या अबन्ध अन्धकार-सा सर्वग्रासी प्रसार नहीं, आलोक-तरल फैलाव चाहिए । 'सा-सा-सा-सा' वाला अद्वैत नहीं, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' वाला द्वैत । मन-मन्दिर-सा सीमित नहीं कि बस उसमें एक छोटी सी प्रतिमा भर बैठे, यह तो जैसे असीम आकाश में डूब गया है, तदाकार हो गया है । अब वह किरणों का अधिवास हो सकता है ।

मन का 'गगन-मगन' होना पार्थिवता का विरोधी नहीं, व्यावहारिकता से पलायन नहीं है । वह तो जैसे उठान है-भूमि से भूमा की ओर । वह स्वस्थ विकास है- बीज से विटप की भाँति । बीज भूमि में रहे पर प्राकृतिक विकास का तकाजा है, तना आकाश में सिर उठायेगा, फुनगी आकाश चूमना चाहेगी । किरण पहले फुनगी पर उतरेगी, फिर वह चाहे डाल-पात से छन कर भूमि को आलोकित कर दे, उसकी तीक्ष्ण करुणा की बलिहारी ।

मन अपनी सूक्ष्मता में विराट् है । वह तन के-मिट्टी के दायरे में नहीं

अटता। ठूँस-ठाँस कर रखने से घुटता रहता है। खुलता नहीं है; खिलता नहीं है। उसे खुलने-खिलने के लिए अनन्त अवकाश चाहिए-आकाश चाहिए।

मिट्टी का मोह त्यागे बिना मन गगन में मँडला सकता है, 'मगन' नहीं हो सकता। और जब तक वह 'गगन-मगन नहीं है, तब तक उसे विशुद्ध ज्ञान का आलोक नहीं प्राप्त हुआ है, समझना चाहिए।

प्रार्थी कवि का मन उस आध्यात्मिक स्तर तक उठ चुका है, जहाँ किरणमयी सहजभाव से उतर सकती, अपना आवास बना सकती है।

कवि की प्रार्थना के कितने ही प्रकार हो सकते हैं। होमर कह सकते हैं :-

"Achilles' wrath, to Greece the direful spring, Of woes unnumber'd heavenly heavenly godden sing !

x x x

Declare, O muse ! in what ill-fated hour, Sprung the fierce strife, from what offended bower."

-Pope's Homer's Iliad.

मिल्टन देवी सरस्वती का इस स्वर से आवाहन कर सकते हैं :-

Of man's first disobedience and the fruit
Of the forbidden tree, whose mortal taste
Brought death into the world and all our woe

x x x

Sing heavenly muse..................
And chiefly thou, O Spirit...............

शंकराचार्य नगपति-किशोरी गौरी का यों भजन कर सकते हैं :-

मुखे ते ताम्बूलं नयन-युगले कज्जलकला
ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता
स्फुरत्कांची शाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामस्त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्।

किन्तु प्रस्तुत प्रार्थना का स्वर रवीन्द्रनाथ के-

"अन्तर मम विकसित् करो अन्तरतर हे !" की जाति का है, यद्यपि यह सौन्दर्य्य और माधुर्य्य में रवीन्द्रनाथ की नैतिक दार्शनिकता को बहुत पीछे छोड़ देता है।

पार्थिव प्रेम प्रतिदान-प्राप्ति का आकांक्षी होता है । इस प्रकार प्रेम अमर्यादित हो जाता है । प्रेम का मौलिक सौन्दर्य विकृत एवं कलुषित हो जाता है । विकार, स्वार्थ और द्वन्द्व-कालुष्य से भरे हुए मन में निःस्वार्थ अपार्थिव प्रेम का कोई धुँधला-सा चित्र भी नहीं उभरता । किन्तु मूलतः पार्थिव अपार्थिव प्रेम में इतना ही अन्तर है कि स्वार्थ के साँचे मे ढला हुआ प्रेम पार्थिव है, क्षुद्र है, सीमित है और वह बन्धन, दुःख तथा अनुताप में पर्य्यवसित होता है, इसके विपरीत जब प्रतिदान एवं स्वार्थ की भावना से नहीं संचालित होता तब वह निर्विकार होता है, दिव्य होता है, मुक्ति और अनन्त आनन्द से एकात्म हो जाता है, जैसे बहता हुआ पानी समुद्र से ।

प्रेम की परिपूर्णता का सन्धान सब करते हैं पर एकात्मता की अनुभूति - गगन-किरण-मिलन की अनुभूति - निरालों को ही होती है । आत्मदृष्टि का उन्मेष हुए बिना देहासक्ति नहीं मिट सकती; इन्द्रिय-केन्द्रित प्रेम भक्ति के ऊर्ध्व उन्मुक्त गगन में ज्ञान की कनक-रजत किरणों से पुलक-प्रकम्प का असीम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता ।

भक्ति के द्वारा ही आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति संभव है । सत्य स्वयं प्रकाश है, भक्ति मन को गगन का उन्नयन भी देती है, विस्तार भी । भक्तिहीन ज्ञान और ज्ञान-हीन भक्ति - दोनों अपूर्ण हैं । भक्ति की नीलिमा और ज्ञान की ज्योति मे एकात्मता चाहिए ।

१. "प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा मधुर ज्योति-धार
मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन-वन के बहार !"

२. भर देते हो,
बार बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो !

इस प्रकार के, अहैतुकी करुणा की आनन्दमयी अनुभूति के, कितने ही पद कण्टकित प्राणों के आँसुओं-धुले इंगित-से नयन-मन तरंगित होते हैं । अञ्जलि चाहे अलक्ष्य हो, पर फूलों की मधुर गन्ध छिपाए नहीं छिपती ।

लक्ष्य करने योग्य 'प्रिय' की आवृत्ति है । 'ब्रह्म-संस्पर्श' की उत्कटता का अनुभव सर्व-वेद्य नहीं है; किन्तु सामीप्य और साहचर्य्य की निविड़ अनुभूति के बिना-

-प्रिय कोमल-पद-गामिनि,
-प्रिय करुणा की किरणों से
-प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत-मन्त्र नव

की ऐसी सरस अभिव्यक्ति संभव नहीं है ।

'गाने दो प्रिय, मुझे भूल कर
अपनापन.........अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती-जल नित बरसाओ !'

की असंग तन्मयता में निराला का स्वतन्त्र आमन्त्रण गूंजता है ।

इस 'प्रिय' को-

'पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव, सोढुम् !'

के-से क्षमापन की अपेक्षा नहीं है । यह तो कवीन्द्र रवीन्द्र की Drunk with the joy of singing I forget myself, and call thee friend who art my lord सी विसुध आनन्दानुभूति है ।

''समाधि-निर्धूत-मलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ।''

भक्त कवि निराला सूर-तुलसी की भक्तिभावना का नहीं अनुवर्तन करते, इस कारण श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि की नवधा भक्ति या सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य की पञ्चधा मुक्ति उनमें रूढ़ रूप में नहीं ढूँढ़नी चाहिए । यों आग्रही पर वह सर्वत्र अनुग्रह करते देखे जा सकते हैं । भक्ति की तरलता और मुक्ति की गम्भीरता स्थिर रूप में प्रकाशित हुई है, साम्प्रदायिक उद्धेग या प्रचारात्मक तार स्वर में नहीं ।

वह तो सगुण, निर्गुण, देव, देवी - सबको अपनी अभिव्यक्तियों में समान समादर से समेट कर अपने को खोलते हैं । उनकी उदार-उन्मुक्त, भक्ति, निश्चय ही, अशास्त्रीय नहीं है :-

''ज्ञानौ द्वौ अजौ ईशानीशौ ''
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं 'कुमारः उत वा कुमारी ।''

उपनिषदों की ऐसी कितनी ही उक्तियाँ उनकी उपलब्धि के साथ हैं । सात्त्विक राजस और तामस-तीनों गुणों में उनकी आस्था एक-सी रमी है । जहाँ पुरुष प्रकृति, योग-सिद्धि, शिव-शक्ति की प्रतीकात्मक अनन्यता है, वहाँ रघुकुल-गौरव रामचन्द्र के साथ अचला भक्ति और राधा के मनमोहन और उनके अधरों की वेणु का चिर साहचर्य्य भी है । इतना ही नहीं, सत्त्व के उद्रेक में यहाँ तम भी वर्जित नहीं रहा है, व्यापक प्रकाश - बहिरन्तर तिमिर से अपरिचित नहीं है :

"तुम सुरा-पान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति !"

यह भक्ति तम में भी साथ नहीं छोड़ती । "गर्ज गर्ज क्षण मूढ़, मधु यावत् पिवाम्यहम् ।" सृष्टि हो या संहार, सब रूपों में अनन्यता है । भक्त जानता है :-

"विराजिता शव आसने, कभु प्रमत्ता आसवपाने,
ओ मा त्रिगुणधारिणि, गुणातीता त्रिनयनि !"

संहार जब नवीन सृष्टि का उपादान बन जाता है तब वह भक्ति के उदात्त स्वर-विस्तार से वञ्चित नहीं रह पाता । "लैहों मैं करवट-काशी" में भक्ति की व्याकुलता ने ही प्रशान्त वाणी पाई है । जीवन और जगत को विभु की विभा का क्षेत्र समझ जिसने आँसुओं से भक्ति की बेल सींची वही वहाँ रज उड़ते और तम छाते देख कर परिवर्तन की शक्ति का यों आवाहन कर सकता है :-

"एक बार बस और नाच तू श्यामा !
अट्टहास-उल्लास-नृत्य का होगा जब आनन्द,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जाएँगे ये जितने कोमल छन्द,
सिन्धु-राग का होगा तब आलाप............"

यों तो आचार्य शंकर ने 'विवेक चूड़ामणि' में भक्ति के सम्बन्ध में अपनी मान्यता व्यक्त की है कि मुक्ति प्राप्त करने के जितने उपाय हैं, उसमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है :-

"मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।"

वस्तुत: भक्ति और कुछ नहीं, जीव द्वारा अपने ही स्वरूप का अनुसन्धान है; किन्तु कुछ अभिज्ञों का अभिमत है कि जीवात्मा द्वारा परमात्मा के अनुसन्धान का नाम भक्ति है ।

"स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते
स्वात्मतत्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे विदु : ।"

आत्म-रति में नित्य रहने को शाण्डिल्य ने भी भक्ति माना है, परन्तु परम प्रेमरूपा भक्ति के व्याख्याता देवर्षि नारद ने परम व्याकुलता को भी लक्ष्य किया है जिस कारण भक्त का दैन्य भगवान् को प्रिय है-

"केहि अति दीन पियारे ?"

निराला का चिरपरिचित 'अहं' दैन्य से सामंजस्य स्थापित कर लेता है तो केवल इसी कारण कि वह मौलिक रूप में सहज-सरल थे; भवभूति की भाँति उनका अहंकार विश्व की निमर्मता के पंक में पंकज-सा फूला था ।

अपने कर्तृत्व का विनम्र परिहार उन्होंने फिर फिर किया है :-

'तुम्हीं गाती हो अपना गान
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान !'
-गीतिका

x x x

'तुमने स्वर के आलोक-ढले
गाये हैं गाने गले गले !'
-अर्चना

x x x

'नर-जीवन के स्वार्थ सकल !
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल !
-गीतिका

उनकी दैन्य-सजल आर्त पुकार बहुत ही बेधक है :-

"दुरित दूर करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ
हार गया जीवन-रण,
छोड़ गए साथी जन,
एकाकी नैश-क्षण
कण्टक-पथ, विगत पाथ !"
-अर्चना

पूरे परिवेश में करुण-कातर स्वर प्रतिध्वनि के लिए विकलता बिखेर रहा है ।

पाप को दूर कर, ग्रहणीय बना कर मेरा हाथ पकड़ लो, क्योंकि मैं अशरण हूँ; आश्रय-हीन हूँ ।

जीवन-समर में मैं पराजित हो गया-अर्थ के पथ पर अनर्थ होते देखकर मैंने स्वार्थ की लड़ाई में अस्त्र-शस्त्र डाल दिए । फिर हारे का साथी कौन हो ? जो संघर्ष करते समय दाएँ-बाएँ खड़े थे, उन्होंने भी मुझे छोड़ विजयी से साँठ-गाँठ कर ली । यों मुझे दूसरों का लहू पीनेवाले विजयी का भेद मालूम हो गया था, पर इससे क्या ? साथियों का स्वार्थ जिससे साफ सधता था, उसे छोड़ वह सर्वथा असमर्थ के पास क्यों रहते ?

अब तो मैं अकेला रह गया हूँ । रात का वक्त है, रास्ते में काँटे बिछे हैं, पाथेय नदारद है । ऐसे में तुम नहीं तो और कौन मेरा हाथ गहेगा ?

In the busy moments of the noontide work I am with the crowd, but on this dark lonely day it is only for thee that I hope." -Tagor.

ऐसा लगता है जैसे इस युग का गजेन्द्र भी ग्राह से अकेला युद्ध करत-करते थक कर असहाय हो कर उद्धार के निमित्त कातर स्वर की पूरी तीव्रता से प्रभु को पुकार रहा हो ।

कितने बार पुकारा,
खोल दो द्वार, बेचारा !
मैं बहुत दूर का, थका हुआ,
चल दुखकर श्रम-पथ रुका हुआ,
आश्रय दो आश्रय-वासिनि,
मेरी हो तुम्हीं सहारा !

-गीतिका

मैंने कितनी-कितनी बार पुकारा ! अब भी तो अपनी कुटी का द्वार खोल दो । मैं बेचारा हूँ; मेरा कहीं और ठिकाना नहीं ।

बहुत दूर चलते-चलते - एक जन्म से दूसरे जन्म की यात्रा करते - एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव की ओर बढ़ते-बढ़ते अब मैं बहुत बुरी तरह थक गया हूँ । क्यों नहीं थकता भला-आखिर इस मरु-भूमि में कहीं सिमटी-सिमटी-सी भी हरियाली दिखती ! यह थका देने वाला पथ केवल दुःखदायी ही तो रहा, जिस कारण अब और आगे बढ़ने का उत्साह हमेशा के लिए जाता रहा । अरी ओ आश्रमवासिनी,. अपनी कुटिया का द्वार खोल दो; मुझे आश्रय दो; अब मुझे

सिर्फ तुम्हारा भरोसा है !

"सर्व-साधन-हीनस्य पराधीनस्य सर्वथा
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ।"

x x x

डोलती नाव, प्रखर है धार,
संभालो जीवन-खेवनहार ।

-परिमल

धारा का प्रवाह प्रखर है, नाव डोल रही है ओ जीवन के खेनेवाले; इसे सँभालो ।

यों अपनी शक्ति भर नैया तैर रही है; किन्तु उत्ताल तरंगें हें, जो इसे बार-बार अपनी लपेट में ले लेती हैं । अब यह डगमग-डगमग करने और भँवर में चकराने लगी है, इसकी पतवार जो टूट गई है ! ओ जीवन के खेवनहार, इस अतल जल पर मेरे तो पाँव काँपने लगे हैं ।

इस भय की घड़ी में मुझे तुम्हारी बहुत याद आ रही है । ज्यों-ज्यों दिल की धड़कन बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मैं तुम्हारे ध्यान में डूबता जाता हूँ; मुझे तुम्हारे सहारे के अलावा कुछ सूझ ही नहीं रहा है । भय और धड़कन का क्या कहना ? कहीं कूल-किनारा दिखे तो हृदय आश्वस्त हो, मगर यहाँ तो अपार पारावार उमड़ रहा है । अतिशय भय में अतिशय तन्मय होकर - अरे ओ मेरे जीवन के खेनेवाले - मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ ।

कवीन्द्र रवीन्द्र के-

लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा
देखि नाइ कभु देखि नाइ एमन तरणि बाबा ।

का ठीक विलोम चित्र उक्त गीत में अंकित हुआ है । रवीन्द्रनाथ की नाव अमल-धवल पाल में मन्द-मधुर हवा के लगने से कुछ यों झिर-झिर तिर रही है कि वह आनन्द-विभोर हो उठे हैं; निराला की नाव प्रखर धारा में कुछ यों डोल रही डगमग कर रही है कि वह आर्त स्वर से जीवन खेवनहार को पुकार उठते हैं ।

देवि तुम्हें में क्या दूँ ?
क्या है, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार
एक विफल रोदन का है यह हार,-एक उपहार;

भरे आँसुओं में हैं असफल कितने विफल प्रयास,
झलक रही है मनोवेदना, करुणा, पर-उपहास;
क्या चरणों पर ला दूँ ?
और तुम्हें मैं क्या हूँ ?

साधक की सबसे बड़ी शक्ति साधना है क्योंकि वही उसे इष्ट-सिद्धि के शिखर तक पहुँचाती है । पाँच क्लेशों से पीड़ित मन जब उसे भी भार ढोने-जैसा समझे तो यह दैन्य की पराकाष्ठा है । निराला अपनी साधना में ज्यों-ज्यों समृद्ध होते गए त्यों-त्यों उनकी बाह्य अकिञ्चनता बढ़ती गई । दैनन्दिन जीवन की अनिवार्य्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें क्या-क्या न करना पड़ा ! ऐसे में, गगन मन में अन्ध कुहासे-सी निराशा का प्रसार कैसी वेदना और दंशन का कारण हो सकता है, अनुभव-गम्य है । कवि की व्यथा उस भारी साधना को भार ही नहीं समझती, उस भार-वहन की क्रिया को भी व्यर्थ बताती है । कवि समझता है, जिस साधना ने उसे ऐसा अलौकिक अकिञ्चन बना दिया कि वह अपनी इष्टदेवी के चरणों में चढ़ाने योग्य कुछ भी न सँजो सका, वह साधना किस काम की ? न सही अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति, कम-से-कम ऐसा तो होता कि ऐश्वर्य्य-सम्पन्न सर्वसमृद्ध कवियों की भाँति वह भी कल्पित वेदना के कलात्मक छन्द रचकर-

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज दुखेर अश्रुधार
जननी गो, गाँथ्बो तोमार गलार मुक्ताहार !"

सोने के थाल में आँसुओं का मुक्ताहार सजाता; किन्तु यहाँ तो स्थिति ही दूसरी है, जैसे व्यर्थ साधना का बोझ ढोया गया, वैसे ही उसका रोदन भी प्रभावहीन, अत: विफल रहा । बस वही एक हार-उपहार उसके पास है जिसके आँसुओं के कण-कण में उसके व्यर्थ प्रयास, वेदना, करुणा और उपहास प्रतिबिम्बित हैं । कहाँ कविराजों के हाथों गुँथा गलहार और कहाँ यह एक निरर्थक आँसुओं का हार-उपहार ! कवि अपने स्वर में मर्म की समग्र करुणा घोल कर पूछता है कि क्या उसका ऐसा चिर-उपेक्षित हार-उपहार देवी के चरणों में भी स्वीकृति प्राप्त कर सकेगा ! गले तक हाथ उठाने का हौसला नहीं है केवल चरणों तक पहुँचने की विनम्र चाह है । यदि यहाँ भी "ठांई नाई, ठांई नाई" हो तो फिर वह नि:स्व निर्धन और क्या अर्पित करे ?

इस अन्तर्वेदना में वेद-वेदान्त डूब जाते हैं; ज्ञान-वैराग्य-युक्त भक्ति की सुधि नहीं रहती; वैष्णवों, विरक्तों, संन्यासियों और ब्रह्मचारियों की चर्चा अप्रासंगिक प्रतीत होती है । यह-

'राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो !'

का-सा शास्त्रीय दास्य या बौद्धिक लघुता नहीं प्रकट करता, इसमें तो

''निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः ।''

x x x

''कस न दीन पर द्रवहु उमावर''

x x x

''जाऊँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे !''

का-सा अन्तर्नाद है ।

भक्ति-मार्ग में सत्संग की महिमा है । कहते हैं, विषय से निवृत्ति के अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि प्रकार भी सत्संग से सधते हैं । 'भागवत' में कहा गया है :-

'तुलयाम लवेनापि न स्वर्ग नापुनर्भवम्
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।'

''रामचरितमानस'' में इसी की प्रतिध्वनि है :-

'तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिअ तुला इक अंग
तुलै न ताही सकल मिलि जो सुख लव-सतसंग !''

निराला ने सत्संग के तत्त्व-महत्त्व को भलीभाँति आत्मसात् किया था ! वह उसकी दुर्लभता, अगमता और अमोघता के कायल ही न थे, एक अद्वितीय निदर्शन भी थे । वह कहते थे :-

''दो सदा सत्संग (मुझको) !
अनृत से पीछा छुटे,
तब हो अमृत का रंग (मुझको) ।

अनृत से = मिथ्या से, माया से पीछा छूटे और तन-मन में अमृत की निर्मलता छा जाए, ज्ञान के आलोक से वाह्य और आभ्यन्तर एक समान जगमगा उठे, इसलिए मुझे सदा सत्संग मिले !

शान्त हो कुल धातुएँ ये,
बहे एक तरंग
रूप के गुण गगन चढ़ कर
मिलूँ, तुमसे ब्रह्म !

समर्थ स्वामी रामदास ने 'मनाँचे श्लोक' में बताया है कि भौतिक या तात्त्विक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, यज्ञ-याग, तप-त्याग भी पर्याप्त नहीं है, परा शान्ति से तो सत्संग ही प्राप्त हो सकता है। जिसे स्वदेहात्मकता का ही ध्यान है, सर्वात्मा का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? जो देह बुद्धि है उसे आत्मबुद्धि होना है और इसका सबसे समर्थ माध्यम सत्संग है।

रूप से अरूप की ओर बढ़ना कैसे हो ? उपनिषद् ने कहा है-

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतश्नुते।"

निराला कहते हैं, रूप के कच्चे धागे के सहारे मैं गगन चढ़कर ओ ब्रह्म, तुमसे आ मिलूँ। रूप निर्गुण नहीं हो सकता, पर रूप के गुण से निर्गुण तक पहुँचा तो जा सकता है !

अपने त्रिगुणात्मक रूप का पर्यवसान निस्त्रैगुण्य में हो, इसका शाश्वत निश्चय सत्संग में प्रकाशित होता रहे।

प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण-त्रिविध कर्मों का क्षय उस ब्रह्म से साक्षात्कार होने पर ही संभव है :-

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे !"

कीर्तन का स्वर भी निराला की प्रखर भक्ति में मन्द नहीं है :-

हरि का मन से गुण-गान करो
तुम और गुमान करो न करो !

और इस स्वर का चरमविन्दु तो महावाणी में ही परिगणित होने योग्य है :-

"ठग को जग-जीवन-दान करो,
तुम अन्य प्रदान करो न करो।"

यह प्र × दान=प्रकृष्ट दान है, भूमि-दान, स्वर्ण-दान आदि परम्परा प्रतिष्ठित दान। ज्ञानी कहता; ज्ञान-दान करो ! भक्त कवि की उपलब्धि है, जो ठग है, जग को ठगता है, अपने को ठगता है, उसे जग-जीवन का दान दो, सहज मानवीय स्तर पर जीने का दान दो; मर्य्यादा से च्युत होकर असामाजिक तत्त्व बनने से बचा लो। 'ला मिजरेब्ल' के जेल से भागे हुए कैदी को चोरी करने पर भी धर्म-गुरु के उदार-उदात्त भाव देकर मानव बनने दो। यदि तुम ऐसा कर सके तो फिर दूसरे प्रकृष्ट समझे जानेवाले दान करो, न करो, कुछ नहीं आता जाता।

भजन कर हरि के चरण, मन ।
पार कर मायावरण, मन !!

-अर्चना

माया का आवरण पार करना यहाँ 'अहन्ता' का परिहार है । 'कर्त्ताऽहमिति मन्यते', अपने कर्तृत्व का अभिमान छोड़े बिना हरि के चरणों का स्मरण या भजन संभव ही नहीं है ।

'हरि-भजन करो भू-भार हरो,
भव-सागर निज उद्धार तरो ।'

-आराधना

निराला की ऊर्ध्वमुखी भक्ति के विभाव विभिन्न हैं, अनेक आलम्बनों ने उसे तरलता दी है । ''भारति जय विजय करे - '' में भक्ति का आलम्बन भारत माता है तो-

''बन्दूँ पद सुन्दर तव
छन्द नवल स्वर गौरव
जननि, जनक-जननि-जननि, जन्म-भूमि भाषे !''

-गीतिका

में राष्ट्रभाषा हिन्दी के विस्तार और घनत्व का लेखा-जोखा लेना कठिन है । फिर भी मोटे तौर पर उनकी प्रारम्भिक प्रार्थनाओं में निर्गुण-सगुण रूप की प्रधानता है; परवर्ती प्रार्थनाओं में सगुण-निर्गुण रूप की । उदात्तता में अन्तर न आने देने पर भी प्राथमिक पदों में सौन्दर्य्य का महत्त्व स्वीकृत हुआ है, परवर्ती पदों में आन्तरिकता अधिक है । दूसरे शब्दों में, 'परिमल', 'गीतिका' के गीतों में सपक्ष कल्पना की उड़ान लक्ष्य की जा सकती है; 'अर्चना' 'आराधना' में ढल-ढल अनुभूति है । पहले में आलोक-सृष्टि है; पिछले में द्रवित तेज ही है ।

आलम्बन के विस्तार में शिव-शक्ति, राम-सीता, कृष्ण-राधा सब सिमट आए हैं-

१. नाचो हे रुद्रताल;
आँचो जग ऋजु-अराल ।
२. दुख के सुख जियो, पियो ज्वाला,
शंकर की स्मर-शर की हाला ।
३. फिर भी युग पद
बन्दूँ निर्मद

विश्व-वशंवद-करणे ।

-'आराधना'

४. दे मैं करूँ वरण !
जननि, दुख-हरण पद-राग रंजित मरण

-'गीतिका'

५. कामरूप, हरो काम;
जपूँ नाम, राम-राम !

६. कृष्ण-कृष्ण, राम-राम,
जपे हैं हजार नाम !

-'आराधना'

७. श्याम-श्यामा के युगल पद
कोकनद मन के विनिर्मद !'

-'अर्चना'

प्रकृति-पुरुष के सहज विवेकी, माया और मायी के अद्‌भुत ज्ञानी निराला की वैष्णवी भक्ति में भी जयदेव, रूप-जीव गोस्वामी-वाला रसीला स्वर कहीं नहीं है । हाँ, शुकदेव, लीलाशुक, कबीर और तुलसी का आत्मिक धरातल सर्वत्र प्रत्यक्ष किया जा सकता है । कवित्व और तत्त्व-बोध में होड़-सी लगी दिखती है । परिमार्जित अन्तःकरण से जो स्वर फूटते हैं उनमें संगीत के राग, और जो शब्द छलकते हैं, उनमें काव्य-रस, अकृत्रिम रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं ।

सूर-तुलसी, कबीर-मीरां आदि के भक्ति-गीतों, संस्कृत की महान् स्तुतियों और विश्व भर के दार्शनिक कवियों की प्रथित कृतियों से तुलना करने पर भक्त कवि निराला के स्वत्व-महत्त्व स्वतः प्रमाणित हो जायेंगे :-

''कनक-कसौटी पर कढ़ आया;
स्वच्छ सलिल पर कर की छाया !''

-'अर्चना'

निराला जयन्ती
ई० सन् १९६३

—०—

युग-प्रवर्तन के क्रम में

'हिन्दी के हृदय में खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब ही चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं; और यह भी निर्भ्रान्त है कि राष्ट्रप्राप्ति की कल्पना के काम्यवन में सविचार विचरण करनेवाले हमारे राष्ट्रपतियों के उर्वर मस्तिष्क में कानूनी कोणों के अतिरिक्त भाषा के सम्बन्ध की अब तक कोई भावना महात्मा जी, महामना मालवीय जी तथा लोकमान्य-जैसे दो-चार प्रख्यातकीर्ति महापुरुषों को छोड़कर, उत्पन्न नहीं हुई; जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार तथा आन्दोलन राष्ट्रभाषा के विस्तार के लिए किया जा रहा है, उसका श्रेय हिन्दी के शुभचिन्तक साहित्यिकों को, हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं को ही प्राप्त है ।'

-निराला

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु ने-

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' मन्त्र पढ़कर देशवासियों को राष्ट्रभाषा हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए प्रेरित किया था और उसके फलस्वरूप सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागरण के लिए जोर-शोर से हिन्दी का माध्यम अपनाया भी जाने लगा था; किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी । स्वतन्त्रता-संग्राम के सभी सेनानी एकस्वर से हिन्दी को नहीं स्वीकार कर रहे थे । दूसरी ओर स्वतन्त्रता की समस्या को प्राथमिकता देना निर्विवाद था । यद्यपि भाषा की समस्या कोई ऐसी-वैसी न थी, मगर मुल्क की आजादी के मुकाबले उसे दोयम दर्जा ही दिया जा सकता था । कवीन्द्र रवीन्द्र के समान साहित्य-महारथी भी यही कहकर इस प्रश्न को टाल जाते थे कि हिन्दी भाषा में वह चमत्कार दिखलाने की कोशिश की जानी चाहिए जिससे आप ही आप जन मन उसकी ओर आकृष्ट हो सके ।

सभी जानते हैं, प्राचीन हिन्दी ने विद्यापति, कबीर, सूर, मीरां और तुलसीदास के माध्यम से वैसा ही चमत्कार दिखलाया था, और बिना संघबद्ध

राजनीतिक प्रचार के वह देश के अशेष भू-भाग को अनुप्राणित कर सकी थी, इस युग के रवीन्द्रनाथ ऐसे महाकवि भी विद्यापति, कबीर आदि के संक्रामक प्रभाव से अपने को नहीं बचा सके थे, किन्तु प्रश्न समकालीन हिन्दी-भाषा का था जिसे आगरे के इर्द-गिर्द बोली जानेवाली खड़ीबोली कहकर बंगवासी एकदेशी सिद्ध करना चाहते थे और माइकेल, बंकिम, रवीन्द्र, शरत् वाली बंगला को राष्ट्रभाषा का गौरव दिलाने के इच्छुक थे । निराला ने उनकी इस महत्त्वाकांक्षा को लक्ष्य किया था । उन्होंने उनकी अदूरदर्शिनी कल्पना का विश्लेषण करते हुए लिखा था :

'............वे राष्ट्रभाषा के अपर प्रश्नों की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देते, एक तृतीयांश मुसलमानों का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आता, वे नहीं जानते कि आर्य उच्चारण और बंगला के मंगोलियन उच्चारण में क्या भेद है-बंगला के उच्चारण-असादृश्य से पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, युक्त प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृति को कितना धक्का पहुँचता है, वे नहीं जानते, उस तलवार के जमाने में सिर कटाकर भी साहित्य में अपनी संस्कृति की रक्षा करनेवाले वे गत शताब्दियों के महापुरुष अपनी भाषा और लिपि के भीतर से असीम बल अपनी सन्तानों को दे गए हैं ।'

-निराला

मैं समझता हूँ, उस जमाने का दूसरा कोई भी कवि भाषा के भीतर से इस कोटि की सजग राष्ट्रीय चेतना तथा उन्नीत सांस्कृतिक बोध की तीक्ष्णता लेकर शायद ही लिख रहा था । विचार की यह चतुरस्त्रता आरम्भ से ही अपने में कैसा प्रखर ओज और ज्वलन्त तेज समोए हुए थी, निराला का विशाल संस्कारी साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जिन्हें भी खड़ीबोली को सजा-सँवारकर लोक-प्रिय बनाने का श्रेय प्राप्त हुआ है, उन्होंने खड़ीबोली के गद्य को ही मुख्य रूप से चमकाया है । उनका पद्य-विषयक प्रयास कविता की कोटि तक नही पहुँचता । तर्कपूर्ण विचारों के लिए गद्य की वैज्ञानिक शैली को माँजने में उन्होंने रक्त-बिन्दु सुखा दिए थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु सजग मस्तिष्क संवेदनशील हृदय का स्थान नहीं ले सका था । द्विवेदी युग की तुकबंदियों ने एक ही काम ठीक तौर पर किया था कि उन्होंने ब्रज-अवधी की लोच-लचक की आदी जीभ को खड़ीबोली के परिमार्जित उच्चारण के लिए

एक हद तक तैयार कर दिया था । इस काम में सबसे अधिक सहायता राष्ट्रकवि श्री मैथलीशरण गुप्त के लोकप्रिय काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त हुई थी । एक समय 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' खड़ीबोली के कण्ठ-हार के रूप में समादृत काव्य ग्रन्थ थे । किन्तु भाषा की विशुद्धि, छन्दों के निर्वाह या राष्ट्रहितकारी उपदेश-सन्देश को बहुत दिनों तक कविता मानकर चलना संभव न था । विशेषकर तब जब उसी समय बंगला में रवीन्द्रनाथ की तूती बोल रही थी, उनके काव्य को विश्वकाव्य की समकक्षता प्राप्त हो रही थी; उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ नोबेल पुरस्कार मिल चुका था, जो विश्व भर के साहित्यिकों द्वारा उनकी अलौकिक काव्य-साधना की समवेत स्वर से स्वीकृति का सूचक था । दूसरी ओर हिन्दी की नई पीढ़ी अँगरेजी भाषा के व्यापक प्रचार के कारण पश्चिमी काव्य-साहित्य की ढेर सारी अज्ञात, किन्तु अपूर्व-अद्‌भुत विशेषताओं की ओर बड़ी तेजी से बढ़ रही थी और परख रही थी कि रवीन्द्रनाथ के काव्य का साँचा-ढाँचा बहुत कुछ पश्चिमी साँचे-ढाँचे से मिलता-जुलता है कि पूर्व-पश्चिम की संवेदनाओं और शिल्पों का अपूर्व समन्वय ही विश्वकवि के रूप में रवीन्द्रनाथ की सफलता के मूल में है; कि द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता के तंग दायरे में ऐसी विश्वजनीनता की प्रतिष्ठा असम्भव है; कि नई काव्य-चेतना को वृहत्तर मानव-समाज की बहुमुखी संवेदनाओं को आत्मसात् करना ही होगा ।

निराला जानते थे कि उन खाँटी राष्ट्रवादियों की दृष्टि में मध्यकालीन संस्कृति ही भारतीय संस्कृति थी; मैथिली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी के प्रभाव से पृथक् *वह जो भाषा खड़ी कर रहे थे , उसकी खड़खड़ाहट उन्हें मैथिली-ब्रज* की मिठास और अवधी के ओज से वञ्चित कर उस विशाल देश के हृदय की धड़कन नहीं बनने दे रही थी; किन्तु विस्तृत शिक्षा और उत्कट प्रतिभा के अभाव में जिस निष्ठा और लगन के कारण उन्हें लोहे के चने चबाने पड़े थे, उसे झुठलाना नास्तिकता है । आगे चलकर जैसे हिन्दी कविता का अर्थ निराला-पन्त हो गया था, ऐसे ही पहले खड़ीबोली के कवि का अर्थ मैथिलीशरण गुप्त था । अवश्य यहाँ विचार का पहलू दूसरा है ।

'सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा' का स्वदेश अयोध्या से चित्रकूट तक पहुँचता था; 'मानस-भवन में आर्यगण जिसकी आरती उतारें, वह भारती सारे भारतवर्ष में नहीं गूँज पाती थी ।' गूँजती थी यह राष्ट्र-वाणी :-

''हेथाय आर्य, हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़, चीन-
शक हुण-दल पाठान मोगल एक देहे होलो लीन ।

x x x

दिवे आर निवे, मिलावे मिलिवे यावे ना फिरे,
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे ।

उन दिनों 'आर्यगण' की 'टेक' के मुकाबले समवेत 'अन्तरे' का यह कल-कल-निनाद अधिक प्रसरणशील था ।

"एसो हे आर्य, एसो अनार्य, हिन्दु मुसलमान ।
एसो-एसो आज तुमि इंराज, एसो एसो खृष्टान ।
एसो ब्राह्मण, शुचि करि' मन धरो हात सवाकार
एसो हे पतित होक अपनीत सब अपमानभार ।"
मा'र अभिषेके एसो एसो त्वरा, मंगलघट हयनि ये भरा,
सवार परशे पवित्र करा तीर्थनीरे ।
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे ।।"

-निराला का इतिहास-बोध कुछ ऐसा जागरूक था कि उन्हें राष्ट्रभाषा हिन्दी के अभिषेक के लिए किसी ऐसे ही मंगलघट की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसमें आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुसलमान-सभी के कर-स्पर्श से पवित्र तीर्थ-जल भरा हुआ हो । हाली के मुकाबले गुप्त जी जिस हिन्दू राष्ट्रीयता को खड़ीबोली में बाँध रहे थे, वह अपनी संकीर्णता की बेड़ियाँ, संकुचित नैतिकता की हथकड़ियाँ पहने अकड़कर चलने में असमर्थ थी, उसकी दृष्टि मिट्टी की ओर थी, वह सबसे आँख मिलाने के योग्य उदार और निर्मल न थी । किन्तु तभी ऐतिहासिक चेतना की ज्योति भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध देश की मिट्टी को एक नए आकाश में प्रकाशित करने आगे आ गई । -'जग को ज्योतिर्मय कर दो', 'काट अन्ध उर के बन्धन स्तर, बहा जननि, ज्योतर्मय निर्झर', 'गंगा ज्योतिर्जलकण धवलधार हार गले' की हितैषणा की गाँठ में गठिए का असर उसके सेवकों के तर दिमाग के कारण बढ़ता ही जा रहा है । भारतीयता का ज्योतिर्मय अर्थ विश्व की तमाम विभूतियों को भास्वर करता रहा, पर हिन्दी के हितचिन्तकों के प्रस्तर हृदय के भीतर, स्रोतस्वती ही के हृदय के रोड़े की तरह, आलोक-स्निग्धता कुछ भी न पहुँची । भारत के दृष्टिकाव्य में उन्होंने पाषाण-मृत्तिका, सोना-चाँदी, हीरे-मोती, पेड़-पौधे ही देखे, जैसे वणिकों ने रत्नाकर से जढ़ रत्न ही लिये, उसका अपार दर्शन न लिया, वह किस तरह लक्ष्मी और रम्भा दोनों -विद्या और अविद्या, परा और अपरा, तृप्त और तृष्णिका-का पिता है, वे न

समझे । जो भावों और रत्नों की खान अदूर दर्शन है, वह हिन्दी वालों की दूरदर्शिता के फेर में अपनी नवीन चहल-पहल खोकर वृद्ध हो गया, वार्द्धक्य की जड़ता में जकड़कर मृत्यु के पल गिनने लगा, गृहस्थ के गृह की तरह अर्थ के न रहने पर नवीन आच्छद के सौन्दर्य और जीवन से रहित हो ।

आकाश सभी पदार्थों या केवल अर्थों को रूप, रेखा, शब्द और अर्थ देता है, क्योंकि अवकाश के भीतर ही शान्त सन्निविष्ट मिलता है । आकाश नभ है और प्रभा भी । गोद में सूर्य लेकर प्रभा अपने नभपति की प्रतिष्ठा की परिचायिका । यह सब शब्दार्थ-सृष्टि यहाँ के समझनेवाले लोग ही सीमा और निस्सीम में भारत हैं ।'' एक बात

तब यह केवल निराला ही कह सकते थे । शुक्ल जी धर्म की रसात्मक अनुभूति के रूप में भक्ति की व्याख्या तो कर लेते थे; किन्तु कबीर औ विद्यापति की विश्वजनीन राष्ट्र-भक्ति उनकी समझ में नहीं आती थी ।

''जैसे अर्जुन के मारने के पहले कृष्ण के 'मैं' ने सबको मार डाला था, क्योंकि कृष्ण का विशुद्ध, बोधमय 'मैं' था और कौरवों का अज्ञानमय । अज्ञान के तिमिर को बोधमय सूर्य ने नष्ट कर दिया था; रहा था भीतर केवल कृष्ण का 'मैं' जो विराट के साथ अब भी सम्बद्ध है, और अज्ञान-जीर्णता को नाश में परिणत करता रहता है । एक बात

निराला के इसी विराट-बोध ने-'मैंने ''मैं''-शैली अपनाई' लिखा था । इस अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीयता, इस विश्वमानव, इस 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की व्यापकता को काव्य के भीतर से प्रकाशित करने में द्विवेदी-युग की खड़ीबोली असमर्थ थी । इस कोठे का धान उस कोठे में करने की जैसी-तैसी शक्ति उसमें थी, तभी 'मधुप' माइकेल को उसमें खींच लाए थे; किन्तु काव्यभाषा की वह महाप्राणता जो आज विश्व भर के भावों को सहज ही अपने उच्छल-प्रशान्त शब्द-सागर में तैराती है, निराला और पन्त के निजी आलोड़नों में से ही उभरी है । पन्त में वह प्रकृति-रूप में है और निराला में पुरुष-रूप में । प्रकृति-पुरुष का विवर्त आज अनन्त आवर्तों में उद्दीप्त है । जैसे वहिरन्तर के उत्ताप से उन्मथित वातावरण में छाए हुए कुहरे को चीरता हुआ निराला का जाज्वल्यमान स्वर-शर प्रकट हुआ था :-

''शेरों की माँद में आया है आज स्यार ।
जागो फिर एक बार ।''

वैसे ही इतिवृत के पतझर में पन्त का वसन्त-स्वर सुनाई पड़ा था :-

"तू ने ही पहले बहुदर्शिनि,
गाया जागृति का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का, नभचारिणि,
गूँथ दिया ताना-बाना ।"

x x x

तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छँटी नव कविता-सी !

कहना न होगा, 'कटी छँटी नव कविता' की ऐसी 'अविदित-भावाकुल-भाषा' की खोज में पन्त ने पद्मवन में साधना की, निराला ने तमाल-ताली-वन-राजि नील सिन्धु-तट पर । पन्त रूप-श्री में विभोर हो गए; निराला अम्बुधि-निनाद पर निछावर । एक ने हृदयस्पर्शी चित्रों की राह ली, दूसरा उदात्त स्वरों के स्वर्णकिरण-कल्लोलों में लहराया ।

पन्त ने 'छाया' की, भिन्न-भिन्न मुद्राओं में, एक अतुल चित्रावली प्रस्तुत की :

पछतावे की परछाईं-सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन !
चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी
नीरवता की-सी झंकार,
आँख-मिचौनी-सी असीम की,
निर्जनता की-सी उद्गार ।

और निराला ने 'बादल-राग' सुनाया :-

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !!

x x x

तिरती है समीर-सागर पर

अस्थिर सुख पर दुख की छाया-
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया-
यह तेरी रण - तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर-
उर में पृथ्वी के, आशाओं से-
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर
ताक रहे हैं, ऐ विलप्व के बादल ! फिर-फिर ।

x x x

'यमुना' से पूछा :-

तू किस विस्मृति की वीणा से
उठ-उठ कर कातर झंकार
उत्सुकता से उकता उकता
खोल रही स्मृति के दृढ़ द्वार ?

x x x

किस अतीत के स्नेह-सुहृद
अर्पण करती तू निज ध्यान-
ताल-ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं ये किसके गान ?

x x x

किस समीर से काँप रही यह
वंशी की स्वर-सरित-हिलोर ?
किस वितान से तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर ?

एक ओर पन्त की समवेदना छाया के चल-चित्र में छलछला उठी :

कालानिल की कुंचित गति से
बार-बार कम्पित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर,

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन, वेदना,
विफल लालसाओं से भर ?

दूसरी ओर निराला यमुना के-से आतुर सुर से फूट पड़े :'

टूट रहे हैं पलक-पलक पर
तारों के ये जितने तार
जग के अब तक के रागों से
जिनमें छिपा पृथक गुञ्जार,
उन्हें खींच निस्सीम व्योम की
वीणा में कर कर झंकार
गाते हैं अविचल आसन पर
देवदूत जो गीत अपार
कम्पित उनके करुण करों में
तारक तारों की-सी तान
बता-बता, अपने अतीत के
क्या तू भी गाती है गान ?

मोटे तौर पर चित्र और संगीत के अन्तराल से पन्त और निराला की भाषा का भेद प्रकट होता है । अवश्य पन्त के शब्द-चित्र स्वर-शून्य नहीं हैं, निराला का शब्द-निनाद भी रंगों और रेखाओं में कम उद्दीप्त नहीं, किन्तु रेखाओं में जो छवियाँ ठीक-ठीक रंग-रूप पा सकती हैं, पन्त उन्हीं के शिल्पी हैं जबकि निराला के निर्बन्ध स्वर अरेख तक भी फैलते हैं । निराला शब्दों से अधिक नाद-चित्रों के अनुपम चितेरे हैं । इस अंश में उनकी प्रतिभा लौकिक कवियों को लाँघकर वैदिक ऋषियों तक पहुँचती है, जिनके उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वर शब्दों के समान ही अर्थवान होते थे :-

''एक: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।''

चित्र और संगीत को वृहत्तर अर्थ में लेने पर निराला के-से विराट चित्र पन्त में न मिलेंगे या कम मिलेंगे, संगीत के नाम पर कलरव ही अधिक मिलेगा । 'चित्रों तथा भावनाओं के भीतर से चिरन्तन सत्य में पहुँचना, अपार सौन्दर्य में

भावना तथा चित्रों की आकृतियों को मिला देना कविता की पूर्णता है ।' -निराला ने चित्रणकला के सन्दर्भ में यह उक्ति प्रसारित की थी और वर्ण्य की अनुरूपता में प्राञ्जल, पुष्पित, मार्जित, सरल, मधुर, मुहावरेदार भाषा के प्रकारों पर बल दिया था । भाषा के ये सारे विशेषण पन्त में चरितार्थ होते हैं । वह इन विशेषताओं के एकच्छत्र सम्राट हैं । चित्र की बात उठाकर मैंने उस ओर संकेत किया था, जहाँ ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों से सूर-तुलसी पृथक् हैं । शृंगारी कवियों में चित्रों की कैसी-कैसी भंगिमाएँ हैं; किन्तु वे चित्र चित्रों की ही सीमा में रह गए हैं, एक नयनाभिराम प्रतिभा अंकित करने में ही भावों के ऐश्वर्य लुटा बैठे हैं, उनके द्वारा जिस उच्छ्वास या उल्लास की अभिव्यञ्जना हुई है, वह काव्य सृष्टि के अन्तिम सोपान तक नहीं पहुँचती, उसे पार कर जाना तो और दूर की बात है । यही रस-भेद निराला और पन्त के अभ्यन्तर में है । निराला ही लिख सकते थे :

रूप की धारा के उस पार
  कभी धँसने भी दोगे मुझे
निखिल के कान बसे जो गान
  टूटते हैं जिस ध्वनि से ध्यान
देह की वीणा का वह मान
  कभी कसने भी दोगे मुझे ?

-बेला

x x x

करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार

-'तुलसीदास'

x x x

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया तम तरने को ।

-'तुलसीदास'

x x x

जागती प्रिया के नक्षत्र-दीप कक्ष में
वक्ष पर सन्तरण-आशी आकाश है,
पार करना चाहता सुरभिमय समीर-लोक,
शोक-दुःख-जर्जर इस नश्वर संसार की क्षुद्र सीमा।
पहुँचकर प्रणय-छाए अमर विराम के सप्तम सोपान पर।
-परिमल

निराला का यह, उस पार पहुँचने का, आग्रह रूप-सीमा में नहीं आता। तभी-

'वह उस शाखा का वन-विहंग,
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन !'

मैं इसी अरूप रस-भाव-विस्तार को संगीत कहता हूँ। निराला के काव्य में नाद-बिम्ब के सहस्त्र दल खिले मिलेंगे। यह दिव्य दृश्य और कहीं नहीं है।

आए सावन के घन घिर-घिर
नाचे मोर वनों में फिर-फिर -
जितनी बार,
चढ़े मेरे भी तार छन्द से तरह-तरह तिर !
तुम्हें सुनाने को मैंने भी नहीं कहीं कम गाने गाए !!!
-अणिमा

x x x

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में
आते हो, जाते हो !
स्वर के छा जाते हैं बादल,
गरज-गरज उठते हैं प्रतिपल,
तानों के बिजली के मण्डल
जगतीतल को दिखलाते हो !
-बेला

यही वह विस्तार है, जो अगम गगन के समान स्वर के प्रकाश में जब तब दिख जाता है, मिट्टी में सनी मोटी उंगलियों की पकड़ में वह नहीं आता। ऐसे भी कवि होते हैं जिनकी कलम हल की तरह मिट्टी जोतती है, कुछ ऐसे

भी निराला-जैसे आलोक के स्वर होते हैं, जो अनछुई ऊँचाइयों को छूते भर नहीं, उन पर छा जाते हैं । वे स्वर ऐसे-वैसे नहीं, अपने अमृत के अभिषेक से तत्काल नश्वर को अविनश्वर कर देते हैं । मेरा मतलब–

धी ना, धी धी ना, ती ना, धी धी ना,
x २ ० ३

से नहीं, उससे बँधकर मुक्त हुए-

"अहरह तुम्हारे ना जो प्राण हारे !
धूल उन पर पड़ी,
गई सुख की घड़ी,
टूटी सजी कड़ी, छूटे सहारे !
रंग उनका उड़ा,
कलुष आकर जुड़ा,
सत्य से जी मुड़ा, मन रहे मारे ।
रह गए वे दास
निष्फल निराश्वास,
रुक गया उच्छ्वास तट के किनारे !"

-बेला

से है ।

गीतिका में निराला ने अपने काव्य की अन्त: प्रकृति को लक्ष्य कर कहा था :

"वर्ण-चमत्कार
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय, साकार !"

यह पन्त के स्वरित चित्रों से पृथक् हैं । निराला की नादात्मकता जीवन की क्षिप्रता के लिए स्वर-हिलोरों के पाँवड़े बिछाती है; पन्त स्वरों की तुनुक तूलिका से जीवन-पट पर उल्लास-उच्छ्वास की गतिमती छवियाँ उकेरते हैं :

सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान !

यह कोई प्रसारकामी स्वर नहीं, आसमान की ओर उठता हुआ गान नही

है, बाहर की बिखरी रेखाओं को अन्दर समेटता हुआ एक सुन्दर रंगीन चित्र है जिसमें एक हल्का-सा रंग गान का भी है । और तब उच्छ्‌वास के साथ यही कहना उचित प्रतीत होता है :

'कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?'

निराला के अध्येताओं से अविदित नहीं है कि यही दुरूह उपलब्धि निराला की है; उनकी गहन काव्य-साधना का इसे ही मर्म समझना चाहिए । वह आकाश को भेदते और उदधि के गान की प्रतिध्वनि सुनते-सुनाते रहे हैं ।

"जीवन में भर यह ताप, त्रास
मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,
ज्यों सिद्धि परम
भेद कर कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषम
आई ऊपर
जैसे पार कर क्षार सागर अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश, शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर !"

-यही वनबेला निराला की कविता है । निराला की अपेक्षा में उसके अतल की अतुल सुगन्ध कैसी विश्वव्यापिनी हो गई है !

इसके साथ पन्त का 'हिमाद्रि' -

मानदण्ड भू के अखण्ड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण !'

है, जो कवि पन्त के हिम-कण से जीवन-क्षणों को सहेजने के क्रम में अपने उत्तुंग शृंगों को झुकाकर एक ही ठौर खड़ा-खड़ा आशीर्वाद बरसाता-सा जान पड़ता है । उसका पूर्व-पश्चिम के समुद्रों तक का किमाकार विस्तार

(पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः)

थोड़े-से हिमकणों में मुँद गया है ।

समुद्र देखना हो, पहाड़ देखना हो तो निराला को देखिए । वह प्राणों में

पावन कम्पन भरकर, भाव विभोर होकर मेघमन्द्र स्वर लहरा रहे हैं :-

"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत हरित-गुल्म तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द-विन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;.
दशदिक समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पदतल धँस रहा गर्व-
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व !"

x x x

है अमा निशा, उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल !

x x x

दृढ़ जटामुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा दुर्गम पर्वत पर ज्यों नैशान्धकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार !

x x x

ये अश्रु राम के !-आते ही मन में विचार
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार
हो श्वसित पवन उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़
जल शशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव

वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास !
-राम की शक्तिपूजा

यही वह अगम आकाश को भेदनेवाला शिखर-प्रतिध्वनित शत-शत कम्बुकण्ठ अम्बुधि का मन्द्र निनाद है जिसकी ज्योतिर्मयता निराला की कविता के ताने-बाने बुनती है; स्वर शब्दों को दिशाकाश में उड़ाते हैं, अनामिका तूलिका विराट को प्रकाश-पट पर आँकती है, चुँधिया देनेवाली प्रज्वलित रेखाएँ छूने नहीं देती। अपराजित अर्थवत्ता में निभ्रान्त निनाद गूँजता रहता है :-

स्वर के सुमेरु से झरझर कर
आए हैं शब्दों के शीकर !
-बेला

x x x

बादल गरजो !
घेर-घेर घोर गगन
धाराधर ओ !!
-अनामिका

x x x

लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर !
-गीतिका

(२)

गीति-कविता के गुण-दोषों के भीतर से छायावाद के उद्भव और विकास पर बहुत कुछ कहा सुना गया। विजातीय एवं अनुकृत होने की बात सबने की। यह कहते झिझक होती थी कि छायावाद नवजागरण का अग्रदूत है, जो विश्वजनीनता का सन्देश लेकर आया है, जो हिन्दी-कविता को उत्तर प्रदेश के 'स्वदेश' से बाहर ले जाकर विश्ववाद की व्यापक भूमि पर खड़ा करना चाहता है; जिसकी दृष्टि में भारत हिन्दुस्तान का नक्शा भर नहीं, चेतना की वह समष्टि है-

'जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा !'

निराला ने लिखा :-

"इस समय देश की नवीन वाणी जिस रूप को जागृत करना चाहती है, वह अपनी व्याप्ति में एक ही महत् विश्वरूप है, देश और काल से अनवच्छिन्न। भारत की व्यापक साहित्यिकता, जहाँ अंकुश कोई नहीं, केवल चन्द्र की तरह उज्ज्वल भाव-राशि की पीयूषवृष्टि है-एक दूसरे के हृदय के स्नेह का स्रोत, शब्दों का श्रवण-सुखद कलरव अधिकांश मनुष्यों को अभिप्रेत नहीं।

"उनके विचार से यह पराधीन देश के लिए धोखा है। जहाँ पराधीनता का बदला, दूसरों को पराधीन कर, ज्ञात या अज्ञात भाव से, लिया जाता है, वहाँ पराधीन करनेवाले घातक बीज सूक्ष्म रूप से मौजूद रहते हैं। यह उच्च सभ्यता के अनुकूल नहीं।

"देश को स्वतंत्र कर लें, फिर विश्व-मैत्री पर सोचा जायगा; अभी देश ही स्वतन्त्र नहीं हुआ, विश्व-बन्धुत्व की आवाज उठाने लगे, देश की सेवा जरा मुश्किल है न, विश्व-मैत्री से क्या बिगड़ता है,"-आदि-आदि आक्षेप जहर से खाली नहीं; इन भावनाओं के रहते देश-सेवा भी विधिपूर्वक नहीं हो पाती। कारण, इस जहर का प्रभाव देश के लिए घातक होगा।

-व्यापक साहित्य, जुलाई '३०

छायावाद को कवि-व्यक्ति के अहंकार का विस्फोट माननेवाले देशभक्त आलोचक अब भी युग-धर्म की स्वदेशी डफली पर भूदानी राग अलापते हैं, तब भला साहित्य को देश-काल से निरवच्छिन्न, सार्वदेशिक, सार्वकालिक एक स्थायी भावसम्पदा समझकर कौन समकालीन साहित्यिक पत्रकारिता के प्रचारक पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी का कोपभाजन बनना पसन्द करता? कहीं वह उसकी शिकायत बापू तक पहुँचा देते तो बेचारे को विभीषण और जयचंद की स्थिति में मरना पड़ता।

विश्व-साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि में आज भी शमशेर, अज्ञेय, भारती, माचवे, माथुर लिखते हैं तो खाँटी राष्ट्रवादियों के हिमालय से हिन्द महासागर तक के भूगोल में जलजला आ जाता है कि यह विजातीय कुण्ठा, यह सात समुंदर पार की धुन्ध हिन्दी की 'हर गंगा' के गिर्द क्यों जमा हो रही है? तब की कट्टरता का इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि द्विवेदी युग के आधुनिक बोध-सम्पन्न समर्थ महारथी भी विदेशी कथ्य, शिल्प का आयात अपनी हदों में नहीं स्वीकारते थे। भले ही विवेकानन्द अमेरिका और यूरप में घूम-घूमकर भारतीय ज्ञान का निर्यात करें; तरुदत्त और सरोजिनी नायडू अपनी कविताओं के

माध्यम से भारतीय संवेदनाओं का विश्व भर में सम्प्रेषण करें; टैगोर नोबेल पुरस्कार झटक लाएँ; टी.एस. ईलियट-'द वेस्ट लैण्ड' नामक विश्व विख्यात ग्रंथ के What the Thunder Said नामक पाँचवें, अन्तिम खण्ड की शेष पंक्तियों के रूप में-

'दत्त, दयध्वम्, दम्यत,
शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।'

-लिखें; किन्तु अगर शमशेर या अज्ञेय या भारती ने पच्छिम की तरफ ताका तो भारतीयता तिलमिला उठेगी; खण्डित राष्ट्रीयता अपनी हिन्दी का यह अखण्ड अपमान न सह सकेगी ! वह व्यंग्य करेगी; मुँह चिढ़ाएगी !

यह स्थिति आज भी है । सन् '२० से ३० तक कैसी रही होगी, कौन कहे । तब भी निराला लिखते थे :

"...............यही यथार्थ भारतीयता है, विश्वधर्म, मनुष्य-धर्म या ऐसा ही कुछ, किसी भी विशेषण-विशेष्य से कहा जाय ।

...............किसी एक के प्रति प्रतिहार और किसी दूसरे के प्रति प्यार क्षुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं । मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगांग जो मानव अपने उद्‌गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रह कर भी समष्टि, और परिखा परिधि पाकर भी पारावार है । देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है; देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है ।"

"निरंकुश साहित्य देश, समाज, स्वधर्म, परधर्म तथा विश्व के लिए समान रूप से उपयोगी है ।

...............जिस साहित्य की जरूरत पर हम लिख रहे हैं, वह नियमों के पुनर्वर्तन की तरह मस्तिष्क को खाली कर, शरीर पर अधिकार करनेवाला कुछ नहीं । वह मस्तिष्क की उपज है । वही मस्तिष्क, जिसे किसी भी प्रकार की शृंखला ने जकड़ नहीं रक्खा । मस्तिष्क में जितनी रोशनी रहेगी, वह उतना ही स्वच्छ रहेगा और जितने विचार-रहित कर्म रहेंगे, वह उतना ही बोझिल । नवीन साहित्य का उद्‌देश्य केवल प्रकाश है, जो अनेक रेखाओं से अनेक कार्यों पर पड़ता हो और प्रत्येक जीवनोपाय को सरल तथा सुगम करता हो !

-व्यापक साहित्य

व्यवस्थित तथा परिमार्जित शैली में कवि पन्त आज (सन् '६५ में) जो

निष्कर्ष देते हैं,[१] उसकी खुरदुरी उपस्थापना (सन् '३० में) निराला किस मस्ती से, कैसी खट्टी-मीठी-चरपरी शैली में कर रहे थे, देखते ही बनता है। पलित परम्परा के उपासक अपनी झुर्रियों पर खीझकर कहते होंगे :-

"तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं
हम बेजार बैठे हैं !"

निराला ने कहा :

"यहाँ जिस तरह 'उदार चरितानां तु वैसुधैव कुटुम्बकम्' था, वैसे ही योरप में भी, कास्मोपलिटन हुए। पर देशसेवकों की संख्या अधिक होने के कारण स्वार्थ का बोलबाला ज्यादा रहा। विश्ववाद के कुछ चुने हुए लोग केवल अपने व्यक्तित्व का प्रकाश दिखाकर बुझ गए। साधारण लोग उनके चरण-चिह्नों तक भी नहीं पहुँच सके।

संसार की अशान्ति अनेक प्रकार से वदन-व्यादान करती, बढ़ती, फैलती हुई इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण को पूरा कर चुकी। पर समाज की भावना अब भी हजार शताब्दी पीछे है।

.............सन्त कवियों का साहित्य भारतवर्ष में इसीलिए अपराजित है। वह विश्व-मैत्री का सच्चा सिद्धान्त है।

पर इससे गृहस्थों को क्या ? गृहस्थों का धर्म त्यागियों के धर्म से बिलकुल पृथक् है। यदि त्यागी ज्ञान के द्वारा समस्त संसार को एक ही दृष्टि से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, तो गृहस्थ, सहानुभूति, हमदर्दी, ममता तथा अपनत्व के

---

१. छायावादी कवियों का अदृश्य प्रियतम कोई मध्यकालीन ब्रह्म या किसी ऐसी रहस्यमयी शक्ति की धारणा नहीं थी, जो विश्वजनीन से विच्छिन्न अपने ही में स्थित है। छायावादी कवि तो वर्तमान विश्व विकास क्रम में एक नए मूल्य की खोज में रहा, जिसकी प्राप्ति के लिए मानव-आत्मा के भीतर वर्तमान संघर्ष चल रहा है और जिसकी अस्पष्ट अनुभूति से प्रेरित होकर आज पूर्व और पश्चिम में नए दर्शनों, नए विज्ञानों तथा नए विचारकों, कवियों एवं कलाकारों का जन्म हो रहा है। .... मध्ययुगीन कबीर आदि के रहस्यवाद और छायावाद में सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि मध्ययुगीन रहस्यवाद लोक-निष्क्रिय तथा निवृत्तिमूलक था और छायावाद जीवन-सक्रिय तथा प्रवृत्तिमूलक रहा है।

-छायावाद : पुनर्मूल्यांकन १८/१९

द्वारा ।[१] गृहस्थ, और त्यागियों के आश्रम अलग-अलग हैं, पर ज्ञान पर दोनों का समान अधिकार है ।

यह समान अधिकार नहीं रहा । त्यागियों की गृहस्थियों पर विजय हुई । गृहस्थों के हृदय कमल में कामना के कीट पैदा हो गए । वे परलोक के छाया- चित्रों पर विश्वास करने लगे । संत-साहित्य का गृहस्थों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा ।

पर मौखरिये की रागिनी से मुग्ध सर्प को जरा देर के श्रवण-सुख के पश्चात् चिरकाल की स्वतंत्रता खो देनी पड़ी । उसकी टोकरी में रहकर उसके इच्छानुसार सर्प को नाचते रहना पड़ा । यह पराधीनता अब संसार के सभी उत्कृष्ट देशों को खल रही है । इस धार्मिक पाश से छुटकारे की आवाज बुलंद हो रही है । ईसाई गिर्जे से नफरत करने लगे; मुसलमानों ने मस्जिदें ढहा दीं; चीनियों ने चोटियाँ काट डालीं । पर हमारे देश में शिखा (चोटी) का झंडा उसी तरह फहरा रहा है । इस झंडे के नीचे जितनी बुराइयाँ हुईं, सब उसी की तरह जी रही हैं ।''

इस विराट् विश्व-मैत्री के साधक मानवधर्मा महाकवि को दकियानूसी भाती ? ये क्रान्तिकारी भावनाएँ बेशक किताबी नहीं, संघर्षशील प्रवृत्तियों की देन हैं । निराला का व्यक्तित्व अपने युग की सबसे प्रबल प्रतिभा का प्रतीक था । 'इस धार्मिक पाश से छुटकारे' वाले वाक्य को पढ़ते समय जाने क्यों "Necessity of Atheism के लेखक शेली की याद आ जाती है । अस्तु,

'नवीन साहित्य का प्रकाश प्रत्येक जीविका के साधन को सरल-सुगम बना कर ही नहीं समाप्त हो जाता । इससे भी उच्च रहकर वह संसार के लोगों को एक ही पदार्थ तथा ज्ञान के सूत्र से बाँध सकता है और सन्तों के जितने परित्यक्त विषय रहे हैं, उनमें भी सत्य तथा शिव को प्रत्यक्ष कर उनका चित्र अंकित कर सकता है ! विशालता कभी क्षुद्रता से धोखा नहीं खा सकती ।'

-व्यापक साहित्य

'करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर-द्वार

---

१. ''ठहरो, अहा ! मेरे हृदय में-
है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु-जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दु:ख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।''
-निराला .

बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय
लड़ना विरोध के द्वन्द्व-समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर, निर्भर !'

-निराला की वाणी है, आकाशवाणी नहीं । तभी वह कह सके :

'पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार !'

निराला-पन्त की तीक्ष्ण प्रज्ञा में व्याप्ति को तरंगित बाहुपाश में लेने के लिए व्याकुल विचारों का ज्वार आया हुआ है; भावनाएँ विश्व-सौन्दर्य की अनाघ्रात गन्ध पीकर उन्मत्त हो उठी हैं; कल्पनाएँ सितारों के आगे के जहान तक उड़ान भर रही हैं; अनुभूतियाँ जिंदगी की गहराइयों में जलपरियों की तरह तैर रही हैं और सामने बीराने में खड़ीबोली सूखे गले से पुकार रही है :

सीतापते सीतापते गीतामते गीतामते !

चेतन भावों का आवेग 'जोइ सोइ कछु' नहीं गाना चाहता; नई रागात्मकता कवि-समय-प्रसिद्धि से नहीं बँधती; नई संवेदनाएँ नए बिम्ब माँगती हैं; नए प्रतीकों की सीपियों में नई स्वाती की बूँदें टपकना चाहती हैं :

'नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग वृन्द को
नव पर, नव स्वर' देना चाहती हैं ।

इन्हें बोली नहीं; भाषा चाहिए, भाषा-समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति । जीवन और जागृत नव-निर्माण की वाणी घरघराहट से कैसे फूटेगी ? इन्हें विश्व के समृद्ध साहित्य से आत्मिक आकुलता के अनुरूप उदात्त और ललित अभिव्यक्तियों के प्रतिमान लेने होंगे; प्राणों की जो प्रतिच्छायाएँ इन्हें सुन्दर छवियों में आँकनी है, उनके लिए सिद्ध कलावन्तों की तूलिकाएँ देखनी होंगी; इनकी अपनी आँखों के सपने दूसरे द्रष्टाओं के स्वप्नों की तुलना में ओछे और छोटे तो नहीं, परखना होगा । इन्हें आधुनिक हिन्दी कविता को अन्तर्राष्ट्रीय मूर्धन्य कृतियों के समक्ष खड़ा करने की लगन है; इनकी मौलिक प्रेरणा अनुकृति नहीं, तुल्यबलता चाहती है । रुचि के परिमार्जन के क्रम में ये देश-विदेश के सभी सिद्ध साधकों से सम्पर्क स्थापित करेंगे, किसी के पिछलगुए न बनेंगे । इनके प्राणों में नए युग की आगमनी बज रही है, ये इसे अनसुनी करने में असमर्थ हैं ।

एत कथा आछे, एत गान आछे,
एत प्राण आछे मोर,
एत सुख आछे, एत साध आछे,
प्राण हये आछे भोर !'
की जानि की हल आजि, जागिया उठिल प्राण,
दूरे हते शुनि येन महासागरेर गान !
ओरे चारिदिके मोर ए की कारागार घोर,
भाङ् भाङ् भाङ् कारा, आघाते आघात कर ।
ओरे आज की गान गेयेछे पाखि, एसेछे रविर कर !

x x x

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहिचाना
कहाँ-कहाँ, हे बाल विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?

x x x

–पन्त

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?
गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो-
अपनी इच्छा से, प्रबल वेग से बहने दो !

–निराला

एक अकेले रवीन्द्रनाथ में उनके समय तक की विश्व-व्यापिनी भाव-सौन्दर्य-चेतना समग्र भाव से जागरुक थी । साधन की सम्पन्नता का लाभ उनकी दीर्घकालीन साधना ने भरपूर उठाया था । पश्चिमी माणिक-हाला पूर्व के कमल-पत्र-पुटों में क्या रंग लाती है, उन्नीसवीं शताब्दी के बंगला-साहित्य, विशेषकर माइकेल के साहित्य से इसका आभास मिलने लगा था । ईश्वरचन्द्र

गुप्त, रंगलाल वन्द्योपाध्याय, माइकेल मधुसूदन दत्त, बिहारीलाल **चक्रवर्ती**, हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय और नवीनचन्द्र सेन का साहित्य एक हद तक बंगाल के नवजागरण की जटिलता और विक्षोभ को वाणी देने का प्रयासी रहा है । भिन्न-भिन्न भावों की परस्पर विरोधिनी तरंग-भंगिमाओं ने इस युग को हर ओर से घेर लिया था । संभव है, युग की सारी समस्याएँ इनमें से किसी एक ही कवि की वाणी में प्रतिफलित न होकर विभिन्न रंग-वर्णों में बिखर गई हों । फ्रांस की क्रांति जिस प्रकार उसके प्रभाव के विपुल साहित्य में-स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में उस युग के एक-एक स्पन्दन-कम्पन्न तक को वीणा के तारों से राग-रागिनियों की तरह बाँधे हुए है, वैसी सुरेख-सुस्पष्ट परछाइयाँ इनके काव्य पट में भले ही न उभरी हों; किन्तु एक अकेले माइकेल की मधुप-प्रतिभा देश-विदेश के कितने फूल-वनों की सैर कर आई थी, अभिज्ञों से अविदित नहीं । इतना ही नहीं, उसके मन की मिठास ने अपने काव्य-मधु के निर्माण में जो निपुणता दिखलाई थी, उसके अभिनव आस्वाद को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । रवीन्द्रनाथ की मानवता, मानवता का विराट् बोध, बोध की असीमता, यों तो उनके अपने ही अपूर्व व्यक्तित्व की अनुपम उपलब्धि है; उनकी अपनी ही विश्वविजयिनी प्रतिभा की इन्द्रधनुषी छटा है; किन्तु माइकेल और उनके दूसरे समकालीनों में उसका पूर्वाभास अवश्य ही पाया जा सकता है ।

द्विवेदी-युगीन कवियों में माइकेल की-सी महाकाव्य-प्रतिभा या बिहारीलाल चक्रवर्ती-जैसी गीतिकाव्य सञ्चारिणी प्रतिभा न थी । इस कारण भाव-क्षेत्र की रचना में निराला पन्त को उत्तराधिकार में ऐसा कुछ न मिला था, जिसकी तुलना रवीन्द्रनाथ के पाथेय से की जा सके। काव्य कवि-मानस के समर्थ भावों का प्रकाश है, उनकी इस धारणा में पाश्चात्य रोमाण्टिक साहित्य-दर्शन के साथ भारतीय रसधारा का भी योग है । वैसे रवीन्द्रनाथ के स्वतन्त्र चिन्तन को ही प्रमुखता प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि रोमाण्टिक भावाभिव्यक्ति को उन्होंने हू-ब-हू नहीं ग्रहण कर लिया था, उनकी मौलिक भेदक दृष्टि ने भावाभिव्यक्ति के सिद्धान्त को रस में डुबोकर अपने सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप एक नए ही रंग-रूप में निखार लिया था । Poetry is the spontaneous oferflow of powerful feelings और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की अन्विति का एक स्वच्छ रूप उनके इस निष्कर्ष में निखरा है :-

''रसात्मक वाक्यइ काव्य । वस्तुत: काव्यैर संज्ञा आर किछुतेइ हते पारे

ना । रस जिनिसटा की ? ना, या हृदयेर काछे कोन ना कोन भावे प्रकाश पाय ताहाइ रस, शुधु ज्ञानेर काछे या प्रकाश पाय ता रस नहे ।''

अर्थात्, रसात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं । और किसी भी प्रकार से काव्य को परिभाषित किया ही नहीं जा सकता । फिर यह रस है क्या चीज ? और कुछ नहीं, जो किसी न किसी भाव के रूप में हृदय के पास प्रकाशित होता हो, वही रस है । जो केवल बोध में प्रकट होता हो, वह रस नहीं है ।

कहने का तात्पर्य यह कि परम्परा और व्यक्ति-प्रतिभा का अपूर्व समन्वय रवीन्द्रनाथ में हुआ था । उस उदार आयतन में पूर्व-पश्चिम की विभाजक स्थूल रेखाएँ डूब गई थीं । यही रवीन्द्रनाथ निराला-पन्त के प्रेरणा-स्रोत बने,-ऐसा आकर्षक खुलाव और समृद्ध सौन्दर्य और प्रगाढ़ रस का सुस्वादु समाहार तत्कालीन भारतीय साहित्य में और कही नहीं था ।

निराला-पन्त ने उनकी संक्रामक प्रेरणाओं के फलस्वरूप एक उसी प्रकार का संसार अपने लिए बनाना शुरू किया । उनकी दिग्विजयिनी सफलता ने इन्हें भी समानान्तर मौलिक भाव-विस्तार के लिए भौगोलिक सीमाओं को ऐतिहासिक चेतना द्वारा उल्लङ्घित करने के हेतु प्रोत्साहित किया :

'प्रौढ़ि-प्रकर्षेण पुराण-रीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः' की अनुशंसा इनके साथ थी । इनकी मौलिकता को चुनौती देनेवाले विद्यापति, तुलसीदास-जैसे महाकवियों को संस्कृत साहित्य की विशाल पृष्ठभूमि से काटकर देखनेवाले ही थे ।

इस प्रकार अभिनव भाव-प्रकाश के संवेग ने हिन्दी कविता को एक नई भाषा दी । यह भाषा युक्ति-रचना मात्र न होकर, नए बिम्ब-प्रतीकों, नई दृष्टि की अदृष्ट छाया-छवियों के पुलक-स्पर्शों, नए छन्द-बन्द के अनसुने स्वरों को आत्मसात् कर वसन्त-श्री के समान अपने सुरभि-भरे ऐश्वर्य से अलंकृत होकर 'पल्लव' और 'परिमल' के साथ हिन्दी के उद्यान में उतरी । इसकी सहस्र रश्मिमयी दीप्ति ने गद्य-पद्य को एक साथ उद्भासित किया । 'पल्लव' का प्रवेश बौद्धिक और हार्दिक विचारों एवं भावों का एक विचारोत्तेजक मोहक प्रबन्ध-काव्य है और छायावाद-पुनर्मूल्यांकन महाकाव्य ।

पन्त सुकुमार प्रकृति के सहज सुन्दर कवि हैं; निराला तेजस्वी पौरुष की दुर्द्धर्ष प्रतिभा । दोनों ने बौद्धिकता को प्राथमिकता दी; कल्पना के आवेग और उच्छ्वास से उनकी समग्र साधना मनोरम और अप्रतिम हो गई । मर्म से शिखर तक सँवरकर

आधुनिक हिन्दी-कविता ने जो नवीन प्राण-रस संचारित किया, उसका सम्पूर्ण श्रेय निराला और पन्त को प्राप्त होना उचित है । कोरी भावुकता की सृष्टि पिलपिली होती, अनुभूति की खुददुरी, शिल्प और कला की वह अनदेखी भव्यता, जो निराला और पन्त ने गढ़ी, कल्पना की प्रौढ़ि के बिना निस्तेज हो जाती, उसके संश्लिष्ट भावों की सारी माधुरी मारी जाती :

'मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्यापक विकास पर
झरते हैं शिशिर-से चुम्बन-गगन के ।'

x x x

हरे हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ कोमल गात ।
मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर ।
पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नवजीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं !

-परिमल

x x x

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

x x x

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !
वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल

सिहर उठती,-जीवन है भार !

-पल्लव

-'प्रवेश' के ५४ पृष्ठों में पन्त जी कविता के अन्तरंग में प्रवेश करते दिखते हैं, 'परिमल' की १५ पृष्ठों की भूमिका में निराला राष्ट्रभाषा और स्वच्छन्द छन्द पर अपने विचार व्यक्त करते हैं । कहने को इसे कविता की परिधि के बाहर की बात भी कह सकते हैं । यों वास्तविकता इसके विपरीत है । पन्त की दृष्टि फूल-फल पर है, निराला ठोस जड़, तना, डाल-पात, फुनगी - सब की सुधि लेते हैं । नेताओं के राजनीतिक विचारों को ज्यों-त्यो ढोनेवाली सस्ते किस्म की बाजारू भाषा में यदि निराला-पंत के मधुर सौरभ को सहेजने की शक्ति आ जाए तो फिर कहना ही क्या ? क्या वह तब भी समृद्ध प्रतिवेशिनी भाषाओं की समकक्षता में न आएगी ? उसका प्राचीन साहित्य तो सभी प्रान्तीय भाषाओं के प्राचीन साहित्य से समृद्धतर है ही, अब यदि नवीन भी उसी अनुपात में समृद्ध हो जाए तो फिर उससे कौन-सी नई-नई अमीर हुई भाषा आँख मिलाने का साहस करेगी ? हिन्दी को बहुसंख्यकों की भाषा होने का सहज सौभाग्य प्राप्त है; भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक उसके गद्य-पद्य को कब नहीं माँजा गया है; खड़ीबोली की उसकी 'भारत-भारती' और उसके'वीर पञ्चरत्न' के छन्दों ने प्रखर वाग्मिता के कारण पर्याप्त लोकप्रियता भी प्राप्त कर ली है । हिन्दी के सौभाग्य से अब उसे पन्त के रूप में एक स्वाभाविक कवि मिल गया है जिसकी प्रवाहिनी कोमल पदावली और मर्मस्पर्शी मधुर छन्दों में एक अजब-सा सम्मोहन है । जिसकी कल्पना-शक्ति सौन्दर्य्य की ऐसी अम्बर-चुम्बिनी चूड़ाएँ सिरज सकती है, जो भारत और उसके बाहर के शीर्षस्थ कवियों की बराबरी की हों । ऐसे में यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाए, उसके बाहर-भीतर की चल-अचल सम्पत्ति राष्ट्रीय भाव-सम्पदा के रूप में समादर पाए तो सबका श्रम सफल हो । यह अकेले कवियों और साहित्यकारों के वश का रोग होता, तब तो राजनेताओं की मदद की कोई बात ही न थी । सदियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ देश अन्न-वस्त्र के अभाव में मरभुखों का देश हो गया है । पहले इसे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, फिर आर्थिक समस्याओं से जूझना है, तब कहीं सांस्कृतिक विकास की बारी आएगी । पुराने जमाने में जनक-याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ-विश्वाामित्र की बात और थी । अभी इस दरिद्र देश को साहित्य, कला एवं संस्कृति के

उन्नायकों की पहचान नहीं है । यहाँ की जनता राजनीतिक नेताओं को जानती है; उन्हीं का कहा मानती है । यदि वे उसे अपनी भाषा का महत्त्व समझाएँ; राष्ट्रभाषा की गौरव-गाथा सुनाएँ; हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए तन-मन-धन समर्पित करने कहें, तो यह काम आसान हो सकता है । यों पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, हिन्दी के हितैषी साहित्यिक, शक्ति भर प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं; किन्तु और अधिक व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए संघबद्ध जन-आन्दोलन की आवश्यकता होगी, और वह तभी सम्भव होगा जब जनता के नेता जनता की संघशक्ति को जगाएँगे ।

अवश्य नेताओं को संकुचित होने की आवश्यकता नहीं, दूसरे ख्यातिप्राप्तों की तुलना में अपने प्रतिभाशालियों को कम समझकर उनका कुण्ठित होना ठीक नहीं । अब हीनता की भावना से पीड़ित होने के दिन लद गए । निराला आ गया है । कलम फेंककर तलवार उठानेवाले चंदबरदाइयों की भी क्या जरूरत होगी, निराला की कलम किसी भी तलवार की धार से ज्यादा तेज है, वह अन्ध उर के ग्रन्थिल बन्धन तक काट डालेगी :-

सत श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल-
तीनों गुण,-ताप, त्रय,
अभय हो गए थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान !
तीव्र भेदकर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्त्रार !
जागो फिर एक बार !

x x x

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम- अगम, अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द चञ्चल समीर-रथ पर उच्छृङ्खल !

ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट् !

-निराला : परिमल

निम्नलिखित पंक्तियों में पन्त के साथ-साथ अपनी ओर भी एक सुस्पष्ट संकेत है :-

"इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्पवयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरुडम के एकच्छत्र साम्राज्य में बगावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतन्त्र रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठनेवाला है जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायँगे और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो, एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे।"

इस भूमिका में उन्होंने अपने सुकुमार कवि-मित्र श्री सुमित्रानन्दन पन्त के लिए - एकक्रियं भवेन्मित्रम् - से बढ़कर-समप्राण: सखा मत: - तक लिखा है। यद्यपि वह पन्त के-कोकिल के कोमल बोल' के पहले प्रशंसक थे और 'फूलों के हास' और 'तुहिन वन के उल्लास' से उनका गहरा लगाव भी था; किन्तु मानवीय क्षमता की शिखाग्र सीमा तक वह उनसे कविता का प्रतिनिधित्व चाहते थे।

ईलियट ने नोबेल पुरस्कार प्राप्त करते समय जो संक्षिप्त वक्तव्य दिया था, उसमें वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत-कलाओं से काव्यकला को सर्वाधिक स्थानीय प्रतिपादित किया था। उसके अनुसार सभी देखने-सुननेवाले दूसरी कलाओं से आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। अवश्य 'भाषा, विशेषत: कविता की भाषा एक भिन्न वस्तु है, वह यहाँ और वहाँ की जनता को जोड़ने की जगह अलग-विलग करती है। फिर भी भाषा के अड़ंगे को पार करने में हमें कविता से ही महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। हम ऐसा मान सकते हैं कि यदि दूसरी भाषाओं की कविता ने पुष्ट न किया होता तो प्रत्येक देश एवं भाषा की कविता पतित होकर नष्ट हो जाती।'

जो बात ईलियट ने सन् '४८ में कही है, उसे निराला बीस वर्ष पहले कह चुके थे। सन् '२९ में प्रकाशित अपने 'नवीन साहित्य और प्राचीन विचार' नामक निम्बन्ध में निराला ने कहा था :

इस समय हिन्दी-साहित्य की धारा जिस तरह देश-काल के अनुसार संसार की अन्यान्य साहित्यिक धाराओं की गति से मिलकर बह रही है, उसे देखते हुए हिन्दी साहित्य की प्रगति तथा उन्नति के सम्बन्ध में किसी विचारशील निरीक्षक को किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। परन्तु प्राचीन साहित्य के प्रेमी इसे साहित्य का विपथगामी होना ही कहते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि विजातीय भावों के मिश्रण से ही संस्कार तीव्र हो सकता है। यह भाव-मिश्रण साहित्य के लिए आवश्यक है, नहीं तो कुछ काल तक एक ही संस्कार और एक ही प्रकार के विचारों की नेमि में चक्कर काटता हुआ साहित्य भी निर्जीव हो जाता है।

हमारे देश में जिन प्रान्तों की भाषाएँ कुछ समृद्ध तथा पुष्ट मानी जा रही हैं, उनमें विजातीय भावों का प्रवेश ही उनकी उन्नति का कारण हुआ है। फ्रांसीसी साहित्य पर विजातीय जर्मन-संगीत का जो मार्मिक प्रभाव पड़ा, रूस की स्वाधीन जनवृत्ति का जो विकास हुआ, रोमाँ रोलाँ उसके मूर्तिमान महापुरुष हैं। विजातीय उच्च साहित्य के संग का फल कैसा होता है, यह हम ईट्स और रवीन्द्रनाथ को देखकर समझ सकते हैं।

यह सब तब और कोई नहीं लिखता था। सम-सामयिक विश्व साहित्य के विकास की एक-एक सरणि पर निराला की ऐतिहासिक चेतना-सम्पन्न प्रज्ञा सजग एवं उत्सुक दृष्टि रखती थी। उनकी प्रगतिशील रचनाओं को आकस्मिक और आगन्तुक समझना आत्मवञ्चना है। वह समकालीन विश्वसाहित्य की विविध विचारधाराओं में प्रबुद्ध अवगाहन कर हिन्दी कविता में नई धारा बहानेवाले अपने युग के एकमात्र कवि थे।

अच्छे भावों के अभाव में अच्छी भाषा नहीं लिखी जा सकती। अच्छे भाव भावों की व्यापकता में से आते हैं। हम जब भाषा की जटिलता एवं क्लिष्टता की बात करते हैं, तब प्रायः यह भूल जाते हैं कि भावों की जटिलता या क्लिष्टता ने ही भाषा में आवर्त-तरंग-भंग उत्पन्न किए हैं।

शत-शत अब्दों का सान्ध्यकाल
यह आकुञ्चित-भ्रू-कुटिल भाल,

छाया अम्बर पर जलद-जाल ज्यों दुस्तर'

-निराला

x x x

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकाङ्क्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर !
-उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

-पन्त

कहना न होगा, यह सब-

'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' की शैली में नहीं लिखा जा सकता ।

निराला ने कहा :-

'भाव के साथ कला और कला के साथ भाषा संबद्ध है, जैसे क्रम-विकास के सूक्ष्म-स्थूल तीन रूप, एक ही वाक्य में अपनी विवेचना करा रहे हैं ।[१]

'भावात्मक चित्र या अभिव्यक्त के लक्ष्य पर चलती हुई भाषा कभी शिथिल नहीं हो सकती । वह निराभरण, निरलंकार भले ही हो, उसमें दैन्य के लक्षण नहीं मिल सकते ।[२]

-भाव और भाषा

भाषा-सम्बन्धी सारे विवादों का अन्त 'अभिव्यक्त के लक्ष्य पर चलती हुई भाषा' का रहस्य समझ लेने से हो सकता है । रामचरितमानस और विनय

१. 'रचना की ऋजु बीन बनीं तुम' वाले अलौकिक गीत में निराला ने यही भाव व्यक्त किया है : 'एक, एक से तीन बनीं तुम' लिखकर ।

२. 'दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर, आता !
पेट पीठ - दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को मुँह फटी 'पुरानी झोली को फैलाता-'

पत्रिका में भाषा के इतने-इतने रूपों की प्रदर्शनी क्यों सजाई गई, यह प्रश्न अन्यथा अनुत्तीर्ण ही रह जायगा ।

पहले गद्य-पद्य की भाषा को एक करने का वर्ड्सवर्थ ने असफल प्रयास किया था, हिन्दी के अनेक अशक्त कवि जनता के नाम पर तुक पर तुक बैठाते चले गए हैं कि जैसे वे भी वर्ड्सवर्थ के ही पद-चिह्नों पर चल रहे हों ! यह मुँह और मसूर की दाल !

शायद जनता यह नहीं चाहती कि कोई बंबई का बाबू पिकनिक के मूड में उसके झोपड़े में आए, उसके छुटपन की बड़ी बड़ाई करे, उसे अकिञ्चनता को निश्चिन्तता का पर्य्याय बतलाए; उसकी अशिक्षा को 'हडप्पा-मोहेंजोदड़ो-कालीन मौलिक भारतीय संस्कृति कहे और उसके अभावों के अनन्त भाव-साम्राज्य में

कोई एक नई अनर्थकारी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने के लिए आश्वासन देकर हवाई जहाज से लौट जाए ।

एइ-सब मूढ़ म्लान मूक मुखे दिखे हवे भाषा
एइ-सब श्रान्त शुष्क भग्न बुके ध्वनिया
तुलिते हबे आशा; डाकिया बलिते हबे -
मुहूर्त तुलिया शिर एकत्र दाँड़ाओ देखि सबे;
यार भये तुमि भीत से अन्याय-भीरु तोमा-चेये
यखनि जागिबे तुमि तखनि से पलाइबे धेये ।
यखनि दाँड़ाइबे तुमि सम्मुखे ताहार तखनि से
पथकुक्कुरेर मतो संकोचे सत्रासे याबे मिशे ।

-टैगोर

Rise like lions after slumber
In unvanquishable number,
Shake your chains to earth like dew-
Which in sleep had fallen on you-
Ye are many, they are few

-Shelley

निराला ने कहा :-

'भाषा-क्लिष्टता से सम्बन्ध रखनवाले प्रश्न हिन्दी की तरह अपर भाषाओं में नही उठते । हिन्दी को राष्ट्रभाषा माननेवाले या बनानेवाले लोग साल

में तेरह बार आर्तचीत्कार करते हैं-भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।

हिन्दी की सरलता के सम्बन्ध में बकबास करनेवाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा-लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं। कम-से-कम हिन्दी से तो उनका तअल्लुक स्कूल से जब से छूटा, छूटा ही रहा। फिर हिन्दी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हें जरूरत नही मालूम दी। जरूरत रही दूसरों को सिखलाने की। साधारण जनों का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे।'

यही वह दृष्टिकोण है जिसने निराला से 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' की सृष्टि कराई। भाषा की क्लिष्टता को कोसनेवाले प्रतिभा के यौवनोन्माद को नहीं समझते कि कैसे वे प्रतिमान कृतियाँ आधुनिक हिन्दी कविता की प्रतीकात्मक महावाणी बन गई और कैसे नुमाइशी कवि-सम्मेलनों में तालियों की गड़गड़ाहट से बहरी हुई तुकबंदियों से वह महावाणी अनसुनी रह गई।

पन्त को जिस 'अविदित-भावाकुल-भाषा' की अनुभूति हुई थी, उसे 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' दिखलानेवाले टाट उलटकर ढकते रहे। वह एक बार भी 'अविदित' का अर्थ 'अव्याकृत' न समझ सके। गरम-गरम रोटियों और जिन्दा गोश्त तक ही जिनकी दृष्टि फैलती थी, उन्हें अव्याकृत प्रकृति और पुरुष के ऐश्वर्य से क्या लेना था ? वह पन्त की भाषा तक न पहुँच सके, फिर निराला के 'वह भाव कुरल कुहरे-सा भर कर भाया' के 'कुरल कुहरे' को कैसे पहचानते ?

जिन्होंने क्लिष्ट भाषा में गहन भाव दिए, उनकी तुलना में उन्होंने क्या दिया, जो सरल भाषा में साफ-साफ कहने के हिमायती थे; जो नेताओं की बोली की नकल उतारकर अपनी सुविधा के लिए एक नई राष्ट्रभाषा गढ़ना चाहते थे, इस पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। निराला के शब्दों में-

छिपी जो छवि, छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हें क्यों चाव ?
दुखद वह झलक न आने दो,
हमें खेने भी तो दो नाव !

सन् '२२ में पन्त ही का 'उच्छ्वास' प्रकाशित हुआ था और निराला की 'अनामिका' भी उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में छायावाद की यही प्राथमिक रचनाएँ हैं।

यों सन् '१६ में 'जुही की कली' निराला ने खिलाई थी और पन्त ने '१८-'१९ में 'वीणा' और 'ग्रन्थि' की रचना की थी; किन्तु इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित होने का सौभाग्य पीछे प्राप्त हुआ। 'आँसू' भी सन् '२५ में निकला।

सन् '२७ में 'झरना' का जो संशोधित-परिवर्तित संस्करण प्रकाशित हुआ था, मुझे उसके पुनर्मुद्रित रूप के ही दर्शन हुए थे। उसके आरम्भिक निवेदन का प्रथम वाक्य था :-

'जिस शैली की कविता को हिन्दी-साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था।'

-यह प्रचार-वाद है। यह बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा श्री मुकुटधर जी पाण्डेय को छायावाद का आदि कवि कहना; घनानन्द से 'झंकार' के गुप्त जी तक में उनका पूर्वाभास पाना, राष्ट्रकवि न कहे जा सके सूक्तियों के महाकवि श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी को छायावाद के कुहरीले आकाश का ध्रुवतारा बताना आदि। इन भ्रान्त धारणाओं के प्रगल्भ प्रवर्तक और प्रमुख प्रचारक वे हैं जो तब तो क्या, अब भी छायावाद की स्पिरिट न समझ सके हैं और जो जड़ीभूत आग्रह के साथ उक्ति-वैचित्र्य को, फूल और चाँदनी को, असम्बद्ध काल्पनिक प्रलाप को छायावाद मानते आए हैं, अपने रूढ़ संस्कारों के कारण छायावाद की श्रेष्ठतम उपलब्धियों से भी कतराते हैं।

मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि पन्त की कविताएँ सन् '२० से ही 'सरस्वती' में छप रही थीं, जिनका सन् '२६ में प्रकाशित 'पल्लव' में संकलन किया गया था। सन् '२९ में प्रकाशित निराला के 'परिमल' की कविताएँ भी सन् '२३-'२४ में ही 'मतवाला' में छप चुकी थीं। 'झरना' के द्वितीय संस्करण में जिन ३१ नई रचनाओं के जोड़े जाने की सूचना आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल ने दी है, वे निश्चय ही निराला-पन्त की विशिष्ट कृतियों के प्रकाशन के बाद की रचनाएँ हैं। निराला-पन्त के प्रकाश के आकाश की छाया में उभरी हुई आकृतियाँ आरम्भिक नहीं कही जा सकतीं। 'आँसू' के छींटे उन पर भी पड़े हैं।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल

वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

x x x

कौन प्रकृति के करुण काव्य-सी
वृक्ष पत्र की मधु छाया में-
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है
अमृत-सदृश नश्वर काया में !

-झरना

किरण और विषाद के इस रेखांकन में 'कामायनी' के कवि की आत्मा अँगड़ाईयाँ ले रही है :

कौन तुम संसृति-जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

x x x

कौन हो तुम वसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार !

-कामायनी

मैं कहना चाहता हूँ कि ये और इस शैली के सारे बन्द पन्त के स्वप्न, छाया, मौन निमन्त्रण के स्वर, वर्ण, गन्ध से अपरिचित, अप्रभावित मन की देन नहीं हैं ।

निराला और पन्त से काटकर प्रसाद को आमूल मौलिक, स्वतःस्फूर्त सिद्ध करने की शीघ्रता के समान यह प्रवर्तन-सम्बन्धी प्रचार भी है । ....'We shall often find that only the best but the most individual parts of his work may be those in which the dead poets, his ancestors, assert their immortality most vigorously. No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists. You cannot value him, alone; you must set him, for contrast and comparison, among the dead. I mean this as a Principle of aesthetic, not merely historical, criticism.

टी० एस० ईलियट की इस मान्यता में 'मृत-अतीत' कवियों की बात

'परम्परा' के सन्दर्भ में आई है । उसे उपलक्षण समझना चाहिए । इस कथन में पूर्ववर्तियों से समसामयिकों और पारिपार्श्विकों तक का अन्तर्भाव संभव है । ईलियट का आग्रह इसे केवल ऐतिहासिक समीक्षा के सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं, अपितु सौन्दर्य्यशास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त-रूप में भी स्वीकृति देता है । जैसे-

'तुम हो गगन विस्तीर्ण
तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ ।'
और
'तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं
चञ्चल-गति सुरसरिता !'

केवल बाह्य शिल्प में ही पृथक् नहीं, अन्तश्चेतना या आन्तरिक संवेदनाओं के कारण भी भिन्न सृष्टि है; दूसरी रचना की रूह या स्पिरिट पहली का विकास नहीं, (केवल 'तुम और मैं' के साँचे की खोज में मुड़े, तो राजपथ से आरण्यक अपथ तक लौट चलना होगा ।) एक स्वतन्त्र उपलब्धि है, उसी प्रकार प्रसाद के-

परदेसी की प्रीति उपजती अनायास ही आय ।
x x x
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुःख नहीं,
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं !
-झरना

और

अरुण शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे, तुम कौन-
उषा के अञ्चल में अश्रान्त !
-झरना

ये दोनों प्रकार के काव्य-खण्ड एक ही समय के नहीं हैं; दूसरा पहले का विकास भी नहीं है । यह नया आरम्भ है । यह निराला-पन्त के बाद का निर्माण है ।

संस्कृत में एक कहावत है: 'काव्येषु माघः कवि कालिदासः' कि काव्यों में शिशुपाल वध और कवियों में कालिदास सर्वोत्तम हैं । यह परस्पर विरोधी वचन नहीं है । निराला और पन्त कवि बड़े हैं; कामायनी काव्य चूड़ामणि है ।

जून '७७

-o-

आधुनिक कवि पंत

(१)

रागधर्मता या भावात्मकता हृदय की, और तर्कशीलता बुद्धि की, परम्परा से प्रसिद्धि प्राप्त करती आई है । तब बुद्धि कदाचित् दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्रों तक सीमित समझी जाती थी और काव्य के लिए हृदय ही सर्वस्व था । इतना ही नहीं, तब दर्शन और विज्ञान भी परस्पर पूरक नहीं समझे जाते थे– जब भी दोनों बौद्धिकता के दावेदार थे–क्योंकि दर्शन विचारों को दिशा-निर्देश करता था और विज्ञान वस्तु-परीक्षक था; क्योंकि पहला आध्यात्मिक छोर छूता दिखता था और दूसरा भौतिकता से पूर्णतः आवेष्टित था ।

दूसरी ओर, कला को बौद्धिकता से बचाना उसकी स्वाभाविकता की रक्षा करना समझा जाता था, जिस कारण रागात्मकता को ही–जो हृदय का सहज धर्म है–उसकी मूल प्रेरणा के रूप में प्रश्रय मिलता था । अवश्य रागात्मकता के सन्तुलन के लिए विवेक अपेक्षित होता था; किन्तु यह कहना कदाचित् अधिक निरापद होगा कि विविक्त रागात्मकता काव्यकला की सबसे बड़ी पूँजी थी ।

राग-विराग हृदय के धर्म हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि वे बुद्धि-विरोधी हैं । वस्तुतः 'बुद्धि' के शब्दार्थ में एक प्रकार के अहंकार का आभास मिलता है; खिंचाव तथा ठहराव का संकेत प्राप्त होता है और राग-विराग जैसे 'अहं' को ढहा-बहाकर ही चरितार्थ होते हैं । राग-विराग या आकर्षण-विकर्षण इसीलिए भावना-तत्त्व-प्रधान हैं । हृदय भाव-भावनाओं, उमंग-तरंगों का ही आस्पद या अधिष्ठान है ।

विविक्त रागात्मकता के शाश्वत निदर्शन हैं वेद, रामायण, महाभारत । ऋचाओं की आकृति-प्रकृति-गत अनेकरूपताओं के लिए भाँति-भाँति के तर्क दिए जाते हैं । मेरा मन नहीं मानता कि ऋचाओं की भाषा और भावों के अनेक धरातल इसीलिए हैं कि वे एक समय में या एक हाथ से नहीं लिखी गई हैं,

प्रत्युत उनकी अनेकरूपता का कोई और ही कारण है । आदिकवि की काव्यकला के अन्तरंग में प्रविष्ट होने पर इसका स्पष्ट आभास मिलता है । वेद की ऋचाओं के अनेक ऋषि हो सकते हैं; उनकी साधना और उपलब्धि में तारतम्य हो सकता है; भाषा और भाव में अन्तर हो सकता है; किन्तु सम्भावित क्षेपकों को छोड़ देने पर रामायण तो एक ही कवि की कृति प्रतीत होती है, जिसकी रचना धारावाहिक रूप में हुई है, फिर भी उसकी अभिव्यक्तियों में एकरूपता क्यों नहीं है ? मैं इसका कारण बौद्धिकता का परिहार मानता हूँ ।

तनिक-सी सचेष्टता का आग्रह शैलीगत विषमताओं को दूर कर सकता था; भाव-भाषा को एक ही स्तर पर ले आ सकता था, पर तब वाल्मीकि की रामायण और अरविन्द की 'सावित्री' एक ही खान से उत्पन्न हुई दो बहुमूल्य धातुओं के समान समझी जातीं, जब कि वास्तविकता इसके विपरीत है । जहाँ रामायण में भावनाओं, कल्पनाओं एवं अनुभूतियों का स्वच्छन्द निर्झर-प्रवाह है, वहाँ 'सावित्री' में उनका तटबन्धी नियमन, गगनचुम्बी उन्नयन । मैं कहना चाहता हूँ कि वैदिक ऋषियों या वाल्मीकि-व्यास ने अपनी भावनाओं को ठीक उन्हीं रूपों में अभिव्यक्त किया है जिनमें वे उदित हुई हैं, यथासम्भव उन्हीं शब्दों में उन्हें निबद्ध किया है जिनमें वे स्वत:प्रविष्ट हैं । और चूँकि भावनाओं का प्रवाह सदा समतल पर ही नहीं प्रवाहित होता, उसे ऊबड़-खाबड़ पथों को भी पार करना पड़ता है, उनकी शैली में कहीं चिकनाई और कहीं खुरदुरापन ही स्वाभाविक है । स्वत: स्फूर्त भावनाओं से सजातीयता या एकरसता की माँग व्यर्थ है । क्षेत्र उर्वर हो तो वाञ्छित शस्य-सम्पदा के साथ अवाञ्छित तृण भी असम्भावित नहीं । निराला इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

जो बात वाल्मीकि-व्यास के लिए सत्य है, वही सन्त तथा वैष्णव कवियों के लिए भी । कबीर की खाँड़ इसीलिए खुरखुरी लगती है; सूर की माखन-मिसरी का यही मर्म है । सफल अनुकरण होने पर भानुसिंह की पदावली में इसी कारण सायासता सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है ।

आधुनिक कविता हार्दिक रस की अपेक्षा बौद्धिक सन्तुलन को प्रश्रय देती है । इसकी अनुभूति काल्पनिक और दर्शन वैज्ञानिक है । निराला-पन्त जैसे सन्धि-स्थल पर खड़े युग-बाहें फैलाए हुए कवि मध्य-आधुनिक-युगों के मिश्र संस्कारों के ही परिणाम हैं । यों भी निराला और पन्त की बौद्धिकता एक ही धरातल की नहीं है ।

(२)

आधुनिक हिन्दी-कविता के इतिहास में पन्त की काव्य-प्रतिभा का विकास सर्वाधिक सुस्पष्ट तथा सुव्यस्थित है। 'वीणा' से 'अतिमा' तक की उपलब्धि में काव्य के शुभ्र से शुभ्रतर शिखर की ओर उनके क्रमिक आरोहण के पुण्य सोपान प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं।

इस बीच सौन्दर्य-चेतना, समाज-चेतना तथा आत्म-चेतना के कितने ही रूप प्रखर से प्रखरतर होते गए हैं; किन्तु प्रकृति और प्रेम अपने अर्थ-गौरव तथा अर्थ-विस्तार के साथ सदा प्रेरणा-केन्द्र बने रहे हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि पन्त जी जन्मजात कवि हैं। प्रेम का अंकुर किसी भी व्यष्टि में प्रकट होकर विश्व-विटपी के विराट् रूप तक में परिणत हो सकता है और प्रकृति बाह्य आवेष्टन से आन्तर व्याप्ति तक विकसित हो सकती है; पन्त की काव्य-साधना ने इसे भली-भाँति प्रमाणित कर दिया है।

हेमचन्द्र ने लिखा है कि प्रकृति के साथ मानव का मन किस बन्धन में बाँधा हुआ है, समझ में नहीं आता–

हायरे प्रकृतिर सने मानवेर मन
बाँधा आछे कि बन्धने बुझिते ना पारि !

बिहारीलाल चक्रवर्ती का प्रकृति-प्रेम और भी निविड़ रूप में व्यक्त हुआ है–

प्रणय करेछि आमि
प्रकृति रमणी सने,
याहार लावण्यच्छटा
मोहित करेछे मने;
मूर्ख–पूर्ण सुधाकर,
केशजाल जलधर,
अधर पल्लव नव
रञ्जित येन रञ्जने
समुज्ज्वल तारागण
शोभे हीरक भूषण,
श्वेत घन सुवसन
उड़े पड़े समीरणे;

वायुर प्रति हिल्लोले
लतागुलि हेले दोले
कौतुकिनी कुतूहले
नाचे चञ्चल चरणे !

मैंने प्रकृति-सुन्दरी से प्रेम किया है जिसकी लावण्य-छटा ने मेरे मन को मोहित कर लिया है ।

पूनो का चाँद ही उसका मुखमण्डल है; मेघ घने केश हैं और नव पल्लव राग-रञ्जित अधर । निर्मल तारों का हीरक-हार है; अलंकार-संभार है और उजले-धुले बादल हवा में उड़ते हुए उसके कौशेय वसन ।

हवा की हर हिलोर पर ललित लताएँ हिलती-डोलती हैं । अरे, यही तो वह विनोदिनी कुतूहलवश चञ्चल चरणों से नाचा करती है ।

अवश्य पन्त का प्रकृति-प्रेम इन दोनों कवियों से अधिक प्रभावोत्पारक है–

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को ?
तज कर तरल-तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू-भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन ?
भूल अभी से इस जग को ?

'पल्लव' की यह कविता कवि का उत्कट प्रकृति-प्रेम प्रकट करती है । उसकी कविता यदि सौन्दर्य्य-चेतना की सरस अभिव्यक्ति है, तो स्वयं उस सौन्दर्य्य-चेतना का मूल उपादान क्या हो–विराट् प्रकृति या एक रूपसी-प्रेयसी, और इस विकल्प में उसका निर्णय प्रकृति के पक्ष में होता है ।

आलम्बन के रूप में रूपसी और उद्दीपन के रूप में अनुरूप प्रकृति का चित्रण तो परम्पराभुक्त है । यहाँ कुछ और ही उद्दिष्ट है । यहाँ दोनों का सहज सामञ्जस्य विवक्षित है । हो तो स्वयं प्रकृति ही प्रेयसी के रूप में उपलब्ध हो ! प्रकृति से भिन्न प्रेयसी की कल्पना कुछ जँचती नहीं है ।

यों ही प्रेयसी को प्रकृति से काटकर निर्वाचित करने में भावना की परिधि संकुचित होती जाती है; कल्पना पंख फड़काकर रह जाती है; उड़ान

भरने योग्य अवकाश नहीं मिलता; आकाश नहीं मिलती और अनुभूति भी सतही रह जाती है; धँसने की हौंस लिए यहाँ-वहाँ गहराई ढूँढ़ती फिरती है ।

फिर प्रकृति स्वभाव से उन्मुक्त, उदार और अनवछिन्न है । यहाँ भावना को भटकाव से बचने के लिए मर्य्यादा ढूँढ़नी पड़ती है : कल्पना को अतीन्द्रियता से बचने के लिए छवियों से बँधना पड़ता है और अनुभूति को प्रेषणीय होने के निमित्त अतलता से बचना पड़ता है ।

कहने का प्रयोजन यह कि वहाँ प्रतिभा को विकास और विस्तार की व्याकुलता है और यहाँ समय और साधना की अनिवार्य्यता । यह अनन्त और असीम है । प्रकृति अनन्त और असीम सौन्दर्यमयी ही है । कवि को इसी का आग्रह है ।

वह कहता है–अरी ओ बाले, तेरे बाल-जाल को मैं आल-जाल नहीं कहता । वह सुन्दर और सुखद है । जिसका जीवन उसकी घनी छाँह में विश्राम करता है, वह बावला नहीं है । मैं राग-धर्मा कवि, वैसा विरागी मन नहीं रखता कि उसे अनात्मज्ञ या माया-जाल में फँसा समझकर हँसा करूँ ।

अरे, मेरा दर्शन तो कुछ और ही है :–

वैराग्य-साधने मुक्ति, से आमार नय ।

x x x

मोह मोर मुक्ति-रूपे उठिवे ज्वलिया,
प्रेम मोर मुक्ति-रूपे रहिबे फलिया !

किन्तु एक बात है, मैं उस श्यामल कुन्तल दल को चाहे एक नजर देख लूँ, एक झाँकी ले लूँ उसकी, पर उसी में आँखें उलझाए रहना अभी मेरे लिए सम्भव नहीं । हाँ, फिर की फिर देखी जायगी ।

अभी तो बस एक ही लगन है, प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य्य को आँखें भरकर देखने की, छककर पीने की । प्रकृति की व्यापक छवि-छाया से हटकर अभी से मुझे अपनी छोटी-सी छाँह में सिमट रहने न कहो !

फिर तुझे ऐसा सन्देह भी न हो कि इधर तो मेरा कोमल-शीतल बाल-जाल बिखरा हुआ है जो तप्त प्राणों के लिए क्षणिक तृप्ति क्या, विश्राम-धाम तक हो सकता है और उधर रुक सकने भर के लायक भी कुछ नहीं; नहीं, उधर तो वह है जिसका हल्का-सा आभास ही तेरे बाल-जाल से मिलता है ! वहाँ है छायादार पेड़ों की घनी और मुलायम छाँह !–'स्निग्ध छायातरुओं' की छाँह ! सच तो यह कि पेड़ों की नर्म छाँह जो यहाँ-वहाँ सब कहीं फैली हुई है–वह

सिर्फ तेरे चेहरे के ही गिर्द लहरे केशों से कहीं अधिक उदार और व्यापक है, मुझे अभी उसी की अपेक्षा है !

इसी प्रकार तेरी भावों की भंगिमाएँ भी हैं जो रसिक-जनों के मनों को मोहती हैं, उन्हें कामदेव के धनुष के खिंचाव-तनाव की याद दिलाती हैं और उनका चित्त चल-विचल होने लगता है ! किन्तु मेरा मन तो अभी बहुत ही भोला-भाला है–हू-ब-हू हिरने का जैसा, जो जल की तरंगों और सुर-धनु के रंगों से सहज ही बहल जाता है ! अरे, तेरे भ्रू-भंगों से कितनी अधिक चंचलता और रंगीनी है उनमें ! तेरी भवें चाहें तो लहरों से लहराना सीखें; इन्द्र-धनुष से रंग तरंगें उधार लें ।

फिर उनकी विशेषता भी कैसी कि वे हृदय को शुद्ध सात्विक आनन्द ही प्रदान करती हैं, तेरे भ्रू-भंगों की भाँति कलेजे को छेदकर छलनी नहीं बनातीं । सो, तेरी कमान-सी तनी भवें, तीर-सी तीखी-चोखी चितवन तुझे ही मुबारक ! अभी तो मुझे प्रकृति की तरल-चपल निर्मलता में विचरना ही उचित जँचता है :–

–न खलु न खलु वाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।
क्व वत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशित-निपाता वज्रसाराः शरास्ते ।
–कालिदास

यहाँ शेली की यह अभिव्यक्ति पर्याप्त व्यतिरेक के होते हुए भी सहसा स्मृति में उभर आती है :–

I fear thy kisses, gentle maiden;
Thou needest not fear mine;
My Spirit is too deeply laiden.
Ever to burthen thine.
I fear thy mein, thy tones, thy motion;
Thou needest not fear mine;
Innocent is the heart's devotion
With which I worship thine.

मैं यह कब कहता हूँ कि तेरी बोली शहद से लिपटी नहीं ! या वह कानों में अमृत नहीं उँडेलती ! पर कोयल की कूक के लिए तू क्या कहेगी, जो बंजर

दुनिया को चमन में बदल देती है ? यहाँ तो महज तेरी तृप्ति की बात है, वहाँ सारा संसार ही मधुर स्वर की लहरों पर लहराने लगता है; जो चाहे उसके भी, जो न चाहे उसके भी कान रस से सराबोर हो उठते हैं ! तो अब तू ही बता, उस ओर मेरा खिंचना स्वाभाविक है न ?

यही हाल भौरों के मधुर गुञ्जन का है ! ठौर-ठौर भौंरे क्या गुनगुनाते हैं, जैसे प्रकृति के प्राणों की बीन बजती रहती है ! फिर वैसी कूक और वैसी वीणा की नीली झंकार अनसुनी कर कैसे तेरे प्यारे-प्यारे बोलों पर बलि-बलि जाऊँ ?

और यह तो मानी हुई बात है कि तेरा मद-भरा चुम्बन अपने में अतुल आकर्षण रखता है; एक बार, उसका रस मिल जाने पर रसिक जन आपा खो बैठते हैं; फिर-फिर और-और के लिए बेताब हो उठते हैं; सुरूर क्या, एक हसीन नशा-सा चढ़ जाता है उन पर !

पर तू ही बता, यह नशा भी क्या शै है ! मंदहोशी में जिन्दगी की सतह पर ही लड़खड़ाता रह जाऊँ और उसकी गहराइयाँ भीतर ही भीतर मेरा मजाक उड़ाती रहें, यह ठीक होगा क्या ? नहीं-नहीं, मैं कवि हूँ, जीवन की अन्तर्ध्वनियाँ मुझसे वाणी माँगती हैं, मैं ऊपर ही ऊपर छलककर चुक जाने की चूक नहीं कर सकता; मैं नशे में जिन्दगी को बहलाने की कोशिश न करूँगा ।

और यह तो मैं कब से कहता आ रहा हूँ कि प्रकृति के विशाल रूपोद्यान में अधर-मधु से अधिक मधुर उषा की स्वर्णारुण किरणों में नव पल्लवों का निखार निरखा है कभी ? हाँ, तू यह कह सकती है कि वह लाल-लाल होठों जैसे दिखते भले हों, मगर उनमें वह माधुरी कहाँ है; वह नशीली मिठास कहाँ है, जो अधर से हर घड़ी छहरती रहती है ? तो मैं कहूँ कि तू यह तो जानती ही होगी कि चाँद सुधानिधि है और उसकी किरणों से छनकर आता हुआ लावण्य-जल जिसे शबनम कहते हैं–तेरे अधरामृत की तुलना में अतुल-अलौकिक है ! फिर स्वर्णारुण आलोक में शबनम-भरे नव पल्लव की छवि तेरे अमृत छलकाते अधर से अधिक भावपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक है या नहीं, तू ही बता ! अब सब मिलाकर उस निष्कलुष-निर्विकार प्रकृति सुन्दरी को भर नजर देख लेने पर तू अवश्य कहेगी कि कवि, तुम ठीक कहते हो ! सचमुच ही तुम्हारी प्रकृति-प्रिया मुझसे हर तरह बढ़कर है ! तुम्हारा प्यार पाने के योग्य वही है.......वही है....! बता, ऐसा ही कहेगी न तू ?

x x x

प्रस्तुत गीत के द्वारा कवि के प्राकृतिक सौन्दर्य्य के प्रति हार्दिक प्रेम का पता लगता है। कवि के अनुसार प्रकृति के प्रति अगाध मोह का साक्षी है यह गीत-चित्र।

प्रकृति-निरीक्षण ने ही उसे सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा दी है। एतदर्थ वह अपनी जन्मभूमि कुमाऊँ या कूर्माचल के अंचल का अनुगृहीत है। स्वयं कवि के शब्दों में–"कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।

अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए भुला सकती है ! और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चल रूप से अवस्थित है।"

किन्तु प्रकृति के प्रति 'कवि के इस अगाध मोह' को महाकवि निराला कलात्मक ह्रास का प्रतीक बताते हैं। वह कहते हैं :–

"कवि बाला के बाल-जाल से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में–तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है !.........

अगर बाला के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावत: 'बाला' के 'बाल-जाल' से अधिक आकर्षक है। अगर छूटे तो द्रुमों की मृदु छाया में क्या करने गए ? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ? प्रकृति में ही रहे तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया ? प्रकृति में 'बाला' से मुधर और क्या होगा ? बाला को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता ! यहाँ कला का पतन हुआ है, उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है।

यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में, बाला के बाल-जाल को छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसन्द होगी ?

इस कविता के अन्यान्य पद भी इसी प्रकार कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं।''

महाकवि की युक्तियों की सूक्ष्मता को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती। यह बहुत कुछ उस स्तर पर निर्भर है, जहाँ से पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित की चित्र मीमांसा की धज्जियाँ उड़ाई थीं; किन्तु मेरा विनम्र निवेदन यह है कि उक्त कविता के प्रेमल परिवेश तथा अशेष विशेषताओं को निरखते हुए यह स्वीकार करने की इच्छा नहीं होती कि उसका अपरा से परा की ओर विकास अभिप्रेत था या उसके रचनाकाल में कवि के मन में शृंगार या वैराग्य का द्वन्द्व चल रहा था :-

एको वासः पत्तने वा वने वा
एक भार्य्या सुन्दरी बा दरी वा !

नहीं, वह उस घड़ी बाला के बाल-जाल से छूटकर प्रकृति के आलुलायित छायात्मक कुन्तल-कलाप में ही उलझना चाह रहा था; रीति युग की बाला के एँड़ी तक फैले केश-पाश से, द्रुमों की सघन-कोमल छाया-जैसे बालों वाली प्रकृति-प्रिया की ओर बढ़ते हुए छायायुग की अवतारणा करना चाह रहा था। बाला के बाल-जाल की स्थूलता को छोड़कर 'द्रुमों की मृदु-छाया' की व्यञ्जनात्मक सूक्ष्मता को आँकना चाह रहा था।

महाकवि निराला के विवेक के अनुरूप ही तो बाल-जाल से 'द्रुमों की मृदु-छाया' को अधिक आकर्षक बताया गया है-एक ओर 'बाल-जाल' और दूसरी ओर 'मृदु-छाया' ऐसे साभिप्राय शक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा ! 'बाल-जाल' शब्द अनुप्रास-जनित संगीत के बावजूद 'मृदु-छाया' की तुलना में रूखा-रूखा दिखता है ! जैसे वहाँ जाल 'बाल' के रूखेपन को स्पष्ट करता है, वैसे ही यहाँ 'मृदु' छाया को कोमलता देता है; इतना ही नहीं, जहाँ 'जाल' बाल को झीना बनाता है वहाँ 'मृदु' छाया को स्पष्ट ही सघनता देता है। फिर उस रूखे-झीने बाल-जाल से छूटकर अगर कवि द्रुमों की मृदु-छाया से नेह लगाता हे तो यह

सर्वथा उचित ही तो है । अब रही बात प्रकृति से माया जोड़ने की, सो ऊपर-ऊपर से देखने पर तो सम्पूर्ण कविता में इससे अधिक गद्यात्मक पंक्ति कोई नहीं दिखती; किन्तु यह मैं ऊपर-ऊपर से देखने की बात कह रहा हूँ । यदि भीतर कविता के अन्तःकरण में झाँकने का प्रयत्न किया जाय तो न केवल इस पंक्ति की गद्यात्मकता मिट जाती है, अपितु कवि की सूक्ष्म दृष्टि तथा शब्द-शक्ति की परख का भी पता लगता है । मैं समझता हूँ, 'तोड़ प्रकृति से भी माया' में प्रकृति शब्द का अर्थ निसर्ग मात्र नहीं है । कवि केवल यह नहीं कहना चाहता कि वह निसर्ग के मोह का क्योंकर परित्याग करे; बल्कि वह 'प्रकृति' शब्द "प्रकृष्ट कृति" की ओर इंगित करता है जिसकी तुलना में बाला निश्चित ही एक 'सामान्य कृति' है । इसी भाव का पोषण 'बाला' के 'बाल' को 'जाल' कहकर और 'छाया' को 'मृदु' कहकर किया गयाहै । इतना ही क्यों, प्रत्येक खण्ड के व्यतिरेक-प्रदर्शन के हेतु प्रकृति के उत्कृष्ट गुणों को प्रदर्शित किया गया है, जैसे बाला के 'भ्रू-भंगों' के मुकाबले 'तरल-तरंगों' और 'इन्द्रधनुष के रंगों' को सामने रखकर कवि कहना चाहता है कि यदि मृग-मन को बिंध ना ही है तो वह भवों की भंगिमा से ही क्यों बिंधे ? क्योंकि लहरीली भवों की तुलना में स्वयं लहरों का लहराना तो और अधिक बेधक होगा ! इसी प्रकार श्यामलिमा की समता में सतरंग सुर-धनु कैसा मोहक लगता है !

आगे, बाला का स्वर प्रिय भर है, मगर उसकी इस प्यारी-प्यारी बोली के मुकाबले प्रकृति के कंठ में स्वयं कोयल की काकली है, मधुकरों की वीणा बजती रहती है ।

और अन्त में, उसके मद भरे अधर के अमृत की समकक्षता में टटके फूटी और तुरत के टपके शिशिर-कणों से सिक्त लाल-लाल कोंपल हैं ।

मैं समझता हूँ, बाला के बाल-जाल, भ्रू-भंग, प्रिय स्वर तथा अधरामृत के प्रति यदि पूर्वाग्रह न हो तो इनकी समतावाले प्रकृति-पक्ष के सभी चित्र अधिक आकर्षक प्रतीत होंगे । यद्यपि :-

तरंग-भ्रू-भंगा, क्षुभित-विहग श्रेणि-रशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भ-शिथिलम् ।
-कालिदास

ऐसे वर्णनों द्वारा उक्त चित्र परम्परा से सर्वथा अपरिचित, अपूर्व-कल्पित नहीं है तथापि आधुनिक हिन्दी कविता के लिए तो यह रूप-शिल्प अपूर्व है ही ।

सौन्दर्य-स्रष्टा से जिस निलेपता और विवेक की अपेक्षा की जाती है, वह पन्त में पर्य्याप्त मात्रा में है । 'पल्लव' उनकी वचन-रचना का प्रथम प्रतिमान है; उनके रूप-शिल्प, राग-बोध एवं रसानुभूति के सस्मित संकेतों से भरा हुआ तारकित आकाश ।

'वीणा' और 'ग्रन्थि' को 'पल्लव' की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है । 'वीणा' की 'प्रथम रश्मि' कविता कवीन्द्र रवीन्द्र के 'निर्झरेर स्वप्न-भंग' के समान ही कवि पन्त के महान् भविष्य की सूचक सिद्ध हुई–

तूने ही पहिले बहुदर्शिनि, गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का नभचारिणि, गूँथ दिया ताना-बाना !

हिन्दी में अन्तर्मुख सुन्दर कविता का प्रथम स्वप्न सर्वश्री भारतीय आत्मा, मुकुटधर पाण्डेय और प्रसाद में चाहे जिसने देखा हो, पर उसे सबसे पहले साकार निराला-पन्त ने ही किया । इन्हीं के ज्योति के पत्र पर लिखे अमर गान की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से कानन के द्रुम-दल पुलके-सिहरे; शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरण लहर पर लहर उठाता हुआ बहने लगा; फूलों की होठों-सी पंखड़ियों में मोती के दाने की तरह हँसी झलमलाई ।

कला में जीवन के संक्रमण का क्रम और है । मैं जीवन की गहराई को वेदना के मापदण्ड से मापने के पक्ष में हूँ । कलाकार की वेदना धर्म के माध्यम से अभिव्यक्त होकर सूर-मीरा की भक्ति कहलाती है; सौन्दर्य के भीतर से प्रकट होकर कालिदास और रवीन्द्रनाथ का शृंगार ।

पल्लवकालीन पन्त की वेदना की गहराई उच्छ्वास और आँसू, अनंग और छाया, स्वप्न और बादल, मौन निमन्त्रण और परिवर्तन-जैसी सजल कृतियों में प्रतिबिम्बित हुई है । ऐसी कृतियों की पन्त-साहित्य में प्रचुरता है । किन्तु जहाँ उनकी वेदना पर अभिज्ञता चढ़ आई है, वह गालिब से इकबाल हो गए हैं । गालिब दर्देदिल है, इकबाल किसी मर्ज की दवा । कहना न होगा कि कला की दुनिया में दर्द ही पुरअसर होता है ।

स्वयं कवि के शब्दों में–'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है । हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही मे बहने लगता, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है ।'

जीवन की सम्पूर्णता के इसी छन्दोमय प्रवाह से अपरिचित कवि काव्य

में खण्डित जीवन का प्रचण्ड कोलाहल मचाते हैं; किन्तु अन्विति लोहे के तारों से उठी मीठी झंकार-सी होती है। क्योंकि लोहा पीटना प्रक्रिया ही है, परिणति नहीं।

कवीन्द्र की वाणी में–धूप की कामना है अपने को गन्ध में मिला देने की और गन्ध की धूप के साथ मिल रहने की। स्वर अपने को छन्द में पकड़ाई देना चाहता है, छन्द लौटकर स्वर में डूब जाना। भाव रूप के भीतर स्वरूप-प्राप्ति चाहता है, रूप भाव के भीतर छूट। असीम सीमा का गहरा साथ चाहता है, सीमा असीम में खो जाना। प्रलय और सृष्टि में न जाने यह किसकी युक्ति है कि भाव से रूप में अविराम आना-जाना लगा हुआ है। बन्धन अपनी मुक्ति खोजता-फिरता है और मुक्ति बन्धन में बस्ती बसाना।

अन्तर्जगत् के दुहरे सम्बन्ध मन और आत्मा के रूप में हमें प्रेरित और प्रभावित करते हैं। 'पल्लव' मानसी सृष्टि है, इसलिए उसमें स्वप्न-देश का भावावेश है; प्राणों को उलझा लेने वाले प्रकृति-कल्पना के लता-प्रतान हैं; किन्तु 'गुंजन' में आत्म-चिंतन, आत्म-मनन की गम्भीर ध्वनि है; मन-मधुकर के पंख डुबोनेवाले आत्ममधु की चेतन सुगन्ध।

जैसे नदी की गति दुहरी होती है, वह अपने दोनों किनारों को चूमती रहती है और अपने को अनुक्षण अनन्त (समुद्र) में विसर्जित भी करती रहती है, उसी प्रकार मानव-जीवन सीमा में बँधा है और असीम से जुड़ा भी।

आत्मोपलब्धि का ऐसा कल्लोलित कल-कल 'गुंजन' में पुंजीभूत हुआ है। अवश्य कवि आत्माराम नहीं, अतः तन और मन के सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को अनदेखा कर सकना उसके लिए अशक्य रहा है, फिर भी उसकी तटस्थता आत्मा की परिचित ऊँचाई की है, जो फिर-फिर कवि के आत्म-मंथन का नीरव उद्घोष करती रहती है।

वैराग्य-साधना द्वारा मुक्ति की कामना युग-धर्म की उपेक्षा से ही सम्भव होती और कवि प्रारम्भ से ही प्रबुद्ध रहा है। दूसरे शब्दों में, कवि की जीवनानुभूति में युग का अलक्ष्य रासायनिक योग किस प्रकार होता है, आत्मा के मंच से तन-मन के द्वन्द्व के द्रष्टा कवि ने इसे अपनी द्वन्द्वातीत रचनाओं द्वारा प्रत्यक्ष कराया है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय में समत्व स्थापित कर कवि निर्लेप भाव से युग-मंगल के लिए उद्यत होता है–ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी

तथा ग्राम्या इसी कारण ज्ञान एवं कर्म-कौशल के समन्वय का सन्देश लिए युग-गीता के विभिन्न अध्यायों की भूमिका में अवतीर्ण हैं ।

भावना और बुद्धि का मिश्रण तो सर्वत्र है । वीणा, ग्रन्थि, पल्लव और गुञ्जन में प्रथम प्रधान है, ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में द्वितीय । 'ग्राम्या' की हार्दिकता में युगपथ से संचरण की अभ्यस्त बुद्धि के श्रमहीनताजनित आह्लाद का संकेत है । यह कवि की क्रांतदर्शिता-मात्र से सम्भव नहीं, कल्पना की संग्राहक शक्ति की तीव्रता-चेतन गतिशील लचीलेपन से ही सम्भव है । सौन्दर्य-चेतना के स्तर पर संचरित होनेवाली कवि की प्रतिभा 'पल्लव' सिरजती है और सामाजिक चेतना के धरातल पर वही 'ग्राम्या' की सृष्टि करती है-यह आश्चर्यजनक दो छोरों का अदृष्टपूर्व इन्द्रधनुषी मिलन कवि की असाधारणता, अद्वितीयता का परिचायक तो है ही, उसकी निर्लेप संक्रमण-शीलता का भी जयघोष है । सत्य, शिव, सुन्दर का समन्वय इसी शिखर पर सम्भव है । ऐसा ही समन्वय गीता, रामचरितमानस आदि में भी है ।

मैं समझता हूँ, पन्त जी की मौलिक चेतना सौन्दर्यात्मक ही है-वही गुञ्जन में आत्म-मंगल और ज्योत्स्ना में लोक-मंगल की ओर उन्मुख हुई है । इस सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति चिरस्मरणीय है-

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक-सेवा में शिव अविकार ।

व्यष्टि और समष्टि, दर्शन और विज्ञान, संश्लेषण और विश्लेषण को अन्विति प्रदान करने की क्षमता सौन्दर्य में ही है । वस्तुतः कला की सीमा में बुद्धि भावना के वेश में प्रवेश करती है; तर्क सुरूप बनकर उपस्थित होता है । यहाँ कारणों का आकलन कम और कार्य्य-सुघरता ही अधिक अपेक्षित है ।

(३)

काव्य को, अन्यत्र, मैंने रूपोपासना कहा है । कहा है कि काव्य अनुभूत की निर्मलता ही नहीं, उसकी अभिव्यक्ति की रंगीनी भी है; भावना की रसात्मक ऋजुता ही नहीं, प्रकाशन की अलंकृत वक्रता भी है ।

छायावादी पन्त की प्रतिनिधि समीक्षा श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखी । प्रगतिवादी कवि पंत को आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने ('हंस' में एक विराट्

लेख लिखकर) जैसे 'इण्ट्रोड्यूस' किया, जब कि 'रूपाभ' द्वारा वह स्वयं अपने परिवर्तित स्वरूप को प्रबुद्ध पाठकों में प्रतिष्ठापित कर चुके थे । और 'मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवादी' पन्त पर श्री इलाचन्द्र जोशी ने सबसे सुन्दर लिखा– 'पन्त जी की स्वर्णचेतना ।' इधर वाद-विवाद की भाषा में लिखनेवालों ने सबसे अधिक पन्तजी पर ही लिखा है–अवश्य परस्पर-प्रशंसिता को 'बाक्स-आफिस हिट' बनानेवाले प्रयोगवादियों की बात यहाँ नहीं कही जा रही–किन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि कवि पन्त पर स्वयं पन्त जी से अच्छा किसी ने नहीं लिखा । पल्लव के 'प्रवेश' और आधुनिक कवि के 'पर्य्यालोचन' के समान अपनी कला के बहिरंग-अन्तरंग का ऐसा सन्तुलित विवेचन किसी भी समकालीन कलाकार द्वारा नहीं प्रस्तुत हुआ । यह पन्तजी की आत्मज्ञता का चूड़ान्त निदर्शन है ।

किन्तु, यहीं यह भी दिखता है उनकी आत्मज्ञता आलोचकों की कोरी वस्तु-विवृति से कितनी विभिन्न है ।पूर्व-पश्चिम के काव्य-सम्बन्धी मत-मतान्तरों एवं समीक्षा-सम्बन्धी विधानों, प्रत्ययों तथा कल्पों का ज्ञान एक बात है और काव्य की तत्त्वज्ञता दूसरी । यहाँ उनकी आत्म-समीक्षा को कालरिज की Biographia Literaria की समकक्षता प्रदान करना उद्दिष्ट न होने पर भी यह निष्कर्ष अवश्य इष्ट है कि पन्त जी भाव-शिल्पी तथा रूप-शिल्पी के साथ-साथ उसी कोटि के विचार-शिल्पी भी हैं । उन्हीं के सुरीले शब्दों में वह सिन्धु की अनन्तता समोए हुए विन्दु हैं; संगीत का समस्त ऐश्वर्य समेटे हुए स्वर-विशेष हैं और मधुमास की अशेष श्री-सुरभि आत्मसात् किए हुए मुकुल हैं ।

भावों को स्वरित करनेवाले उनके सुललित शब्दों को 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः' समझकर यह कहने की इच्छा होती है कि पन्त जी भाव संगीत के शब्दलिपिकार हैं । और, यह शब्दलिपि प्रयोगवादियों के यान्त्रिक शब्दशिल्प से सर्वथा भिन्न है ।

कनक छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार
सुरभिपीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

यही 'वागर्थ' का सम्पर्क है; साहित्य है । यहाँ स्वर और वर्ण परस्पर बट-से गए हैं । भावलोक की ओर स्वर-सरिता में यह शब्द-सन्तरण कितना मधुर है और यह मधुरिमा कैसी कसक-भरी है !

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

सजल अनुभूति में कल्पना की रंगीनी घुलती-रचती रहती है, जभी गहरे, धुँघले, धुले, साँवले मेघों-से नयनों में वेदना की बिजली यों कौंधती है–

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;
आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतु गृह-सा विकाराल !

अमूर्त भावों को तुंग-खर्व प्रतिमानों, प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त करना पंत जी की जीवन अभिव्यक्ति की एक प्रमुख शैली है । उनकी कल्पना आकाश-बेल नहीं, अवनीरुह होकर भी अपने उच्छाय सौन्दर्य-गुणों से ही गगन विहारिणी दिखती है–

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकाङ्क्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !
– – – –
अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ-उठकर ऊपर
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर !
x x x

धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर ।

सच तो यह कि उनकी कल्पना चाँदनी की झीनी ओट ले, नभ के स्नेह-श्रवण में दिशाओं के गोपन-संभाषण का संकेत करती है; वासन्ती बनकर पल्लव-पल्लव में नवल रुधिर संचारित करती, पत्र-पत्र में मांसल रंग खिलाती तथा नीली-पीली लौ वाले फूलों के दिये जलाती है ।

युग के वादों के वात्याचक्र में, गर्म-गर्म विचारों की झंझा के झोकों में सर्-सर्, मर्-मर् रेशम के-से स्वर भरते, लम्बे, पतले चंचल दल भीत, पीत, कृश निर्बल हो पल-पल झर-झर पड़ते हैं, प्रकृति का यह आपद्धर्म तो नहीं ? कल्पना की हँसमुख कल्पलता ऋतु-शृंगार बदलने के क्रम में रात के पहने हरसिंगार के गहने उतार, सबेरे-सबेरे टटके खिले, रंग-बिरंगे फूलों से सजे, यही स्वाभाविक है ।

स्वयं पन्त जी या उनके समकालीन समीक्षक विकासशील चेतना की विविधता को गतिशील या अस्थिर प्रमाणित करें, किन्तु प्रगतिवाद छायावाद को अथवा प्रयोगवाद प्रगतिवाद को पीछे छोड़ने का दावा करता हुआ यह कहता दिखता है कि सौन्दर्य-सुरसरि के तट पर ऐसा शास्त्रार्थ, युग की बदलती हुई माँगों के अनुसार, मूल्य निर्धारित करने का एक कोलाहलपूर्ण तात्कालिक प्रयासमात्र है, इससे कला की बहुमूल्यता भर सिद्ध होती है । मैं समझता हूँ, कला के मूल्यांकन में सौन्दर्य की दृष्टि और दृष्टि का सौन्दर्य दोनों अपेक्षित हैं । विभिन्न काव्य-युगों के निर्माता के रूप में कवि पन्त का ऐतिहासिक महत्त्व होगा, किन्तु अपनी अपरूप सौन्दर्य-सृष्टि के कारण पन्त की कला शत-मुख-मुखर रहेगी ।

तोमार सौन्दर्ये होक मानव सुन्दर प्रेमे तव विश्व होक आलो;
तोमारे हेरिया येन मुगुध अन्तर मानुषे मानुष बासे भालो !

–रवीन्द्रनाथ

जनवरी '५४

●●●

छायावाद : पुनर्मूल्यांकन

'पल्लव' के 'प्रवेश'-काल से ही आधुनिक कवि पन्त का आधुनिक काव्यालोचकवाला रूप प्रकाशित होने लगा था। जहाँ प्रसाद पुरातन की ओर मुड़-मुड़ कर देख रहे थे; उसके ऐश्वर्य और तेज का बखान कर रहे थे, वहाँ पन्त भावी की रूप-रेखा अंकित कर रहे थे। निश्चय ही यह अतीत और अनागत का स्वप्न-दर्शन छायावाद की अन्त:प्रकृति के अनुरूप था, जब कि भविष्य-सृजन से अतीत में प्रत्यावर्तन वस्तु की धूमिल गरिमा के कारण अधिक रहस्यात्मक था और प्रसाद छायावादी से अधिक रहस्यवादी थे; किन्तु अतीत के दायरे में उनका व्यक्तित्व उलझता न था और वह गत्यात्मक से कहीं अधिक सनातन प्रतीत होता था। प्रसाद की तुलना में पन्त की काव्य-चेतना समकालीनता में सजग थी; उनका युग-बोध जागरूक था, जब कि वह वर्तमान के कवि न थे। एक ओर–

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन ?
वह सुवर्ण का काल ?
–भूतियों का दिगन्त छवि-जाल ?

लिखकर वह अतीत के व्यामोह का निषेध करते थे तो दूसरी ओर–

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सके नहीं जग के बाहर !

लिखकर अन्तर्नयनों में भविष्य के सुन्दर सपने सजा रहे थे, क्योंकि उनके मन में सुन्दरता का जो आलोक-स्रोत फूट पड़ा था, वह निकट भविष्य में ही जन-मानस में अंकुरित होनेवाले नवजीवन को नई मांसल हरियाली में फैलानेवाला था :

होगा पल्लवित रुधिर मेरा
बन जग के जीवन का वसन्त,
मेरा मन होगा जग का मन
औ' मैं हूँगा जग का अनन्त !

वर्तमान के कवि निराला थे। वह छककर अतीत की प्रीति पीते थे, उन्मुक्त भविष्य की आगमनी बजने ही वाली है, इस ओर से भी असावधान न थे; किन्तु वर्तमान उनका ईमान था। वह वर्तमान का सौदा अतीत की अशर्फियों और अनागत के हैण्डनोटों से नहीं कर सकते थे। तभी लिख सके : "ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि मैं ही वसन्त का अग्रदूत।" पल्लव के प्रवेश को Preface to the Lyrical Ballads का दर्जा दिया गया, भले ही पन्त को वर्ड्सवर्थ या कालरिज की कोटि का कवि नहीं माना गया। कल्पना से कल्लोलित एवं राग-रञ्जित भावों का लयात्मक शब्दों में गुम्फन पन्त की काव्यकला की एक अपनी विशेषता है। उस विस्मृत प्रस्तावना में अतिललित एवं ज्वलन्त शब्दों में इन तत्त्वों का विवेचन किया गया था। परिमल की भूमिका वैसी नहीं है। पल्लव की प्रस्तावना में, मुक्त छन्द के प्रसंग में निराला को छेड़ा न गया होता तो शायद वह परिमल की भूमिका के रूप में १४-१५ पृष्ठ लिखने का भी कष्ट न करते। एक गीतिका के अलावा उन्होंने अपनी किसी भी दूसरी पुस्तक की बड़ी भूमिका नहीं लिखी। पल्लव, आधुनिक कवि, उत्तरा आदि की लम्बी-चौड़ी प्रस्तावनाएँ तो 'हरिऔध' की परम्परा की थीं–हरिऔध ने प्राचीन साहित्य का ज्ञान 'प्रियप्रवास' की भूमिका में प्रदर्शित किया था, पन्त ने पल्लव के प्रवेश में आधुनिक बोध। निश्चय ही लम्बी-चौड़ी भूमिकाओं ने पन्त को सुगम-सुबोध बनने में सहायता पहुँचाई थी। निराला अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक दुर्गम-दुर्बोध बने रहे, इसका एक कारण अपनी संश्लिष्ट दृष्टि को सुस्पष्ट करनेवाली और शास्त्रीय तथा रूमानी प्रवृत्तियों के संगम से सुदूर अतीत से अत्याधुनिक तक को व्याप्त किए हुए अपनी विशाल पृष्ठभूमि को उजागर करनेवाली भूमिकाओं का अभाव भी हो सकता है।

किन्तु मैं अपने साक्षात् अनुभवों के आधार पर अभी एक दूसरी ही चौंकानेवाली बात कहना चाहता हूँ कि निराला ही सच्चे अर्थों में प्रतिभाशाली थे। वह शिखर से बोलते देखे जा सकते थे; किन्तु प्रत्यन्त पर्वतों से उत्तुंग शृंग तक की अपनी कृच्छ्र यात्रा के क्रमिक चरण-चिह्न नहीं दिखला सकते थे।

ध्रुव और प्रह्लाद के सहज ज्ञान या अन्तः-प्रज्ञा को जैसे ब्रह्मसूत्रों और गीता-उपनिषदों की अपेक्षा न थी, कुछ ऐसे ही, अपने ही अन्तर की आभा में उनका बोध सद्यः-स्नात-सा प्रतीत होता था; उनका ज्ञान शास्त्रों के नियमित अभ्यास का परिणाम न था; उनका पाण्डित्य क्रमबद्ध शिक्षा और परीक्षाओं का कायल न था। वह गणना और प्रक्रिया के जरिए किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते थे। पहले पहुँच जाते थे, फिर चुनौतियों और ललकारों से संक्षुब्ध होने पर, तर्कों और युक्तियों द्वारा अपनी तेजस्विता प्रमाणित करते थे।

हाँ, तो पन्त की-सी प्रस्तावनाएँ, मेरे विचार से, वह नहीं लिख सकते थे। जिस श्रम और धैर्य्य से पन्त ने सिलसिलेवार अध्ययन किया था, पूर्व-पश्चिम की विचार-धाराओं में अवगाहन कर अपनी प्रबुद्ध बौद्धिकता को नहलाया था, निराला में वह ऐतिहासिक क्रमिकता ढूँढ़ना व्यर्थ है :

मैं गाता हूँ,
मैं प्राणों का स्वर्णिम पावक बरसाता हूँ!
कब टूटेंगे मन के बन्धन,
रज की तन्द्रा होगी चेतन,
कब, प्रेम, कामना की बाँहें
खुल तुम्हें करेंगी आलिंगन
मैं गाता हूँ,
मैं जन-मन को ज्वाला का पथ बतलाता हूँ!

–उत्तरा

ये पंक्तियाँ ४८-४९ में लिखी गईं और–

'गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन!
पावक - पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!'

–युगान्त

एप्रिल '३५ में, और–

तू ने ही पहले बहुदर्शिनि,
गाया जागृति का गाना,

श्री - सुख सौरभ का नभचारिणि,
गूँथ दिया ताना-बाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि;
खिली सुरभि, डोले मधुबाल,
स्पन्दन, कम्पन औ' नव जीवन,
सीखा जग ने अपनाना !
—वीणा

आंशिक समता के बावजूद, पन्त की तीस वर्षों की, क्रमशः विकसित काव्य-साधना की सुरम्य रेखाएँ इन विभिन्न वर्णमात्रिक पगडंडियों पर साफ उभरी हुई दिखाई देंगी। समाज, राजनीति और दर्शन की क्रम-क्रम से बदलती हुई परछाइयाँ भी इन अभिव्यक्तियों पर बेल-बूटे काढ़ती हुई दीख पड़ेंगी। मुश्किल है तो यही कि जाने क्यों, संस्कृत साहित्य और विश्व साहित्य पर प्रवचन पिलानेवाले स्वर तुलसी-जायसी और कबीर-सूर पर अटकते और निराला-पन्त में भटक जाते हैं।

संभवतः इसी कारण पन्त को स्वयं लेखनी उठानी पड़ी और 'आधुनिक कवि' तथा 'उत्तरा' की भूमिकाओं में अपनी प्रबुद्ध सांस्कृतिक चेतना का सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत करना पड़ा।

निराला ने भी 'मेरे गीत और कला' नामक निबन्ध लिखा अवश्य; किन्तु वह उसमें स्व-परिभाषित कला की बारीकियाँ ही दिखलाते रह गए,—हिन्दी-कविता की विकस्वर ऐतिहासिक चेतना को नहीं छुआ और न अपनी या पन्त की कलात्मक अनुभूतियों के तारतम्य का विवेचन कर उन अनुभूतियों के मूल्यांकन का ही प्रयास किया। वस्तुतः ऐसा उन्होंने अपनी सीमाओं के ही कारण किया होगा—क्योंकि कारयित्री प्रतिभा बिना तरकीब के भी अपनी मौलिकता में निखर सकती है; किन्तु भावयित्री को टेढ़े-मेढ़े रास्ते नापने पड़ते हैं और उस नाप-जोख का प्रामाणिक विवरण भी प्रस्तुत करना पड़ता है।

(२)

पन्त महाकवि ही नहीं, काव्यश्री के मर्मज्ञ और सर्वोच्च कोटि के समीक्षक भी हैं। हिन्दी में आलोचक से काव्य-मर्मज्ञता की अपेक्षा नहीं की जाती, की भी जाती है तो अनिवार्य्य रूप में नहीं, ऐच्छिक रूप में। मूल का मुँह देखे बिना ही कुछ देश-विदेश के आलोचनात्मक साहित्य की कतरब्योंत में लगे रहने भर से हिन्दी में आलोचक हुआ जा सकता है। पन्त जी अपवाद हैं :

'कश्चिद् वाचं रचयितुमलं, श्रोतुमेवापरस्तां,
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।'

अपवाद हैं; क्योंकि यह उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है; यह उनकी अतिरिक्त उपलब्धि है । अचरज होता है कि पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे कविता के पारखी भी, जाने क्यों, अपने को कवि कहते हिचकते न थे । तब पन्त के शील पर मुग्ध होना ही पड़ता है कि उन्होंने कभी अपने आलोचक का ढिंढोरा नहीं पीटा और पल्लव के 'प्रवेश' से 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' तक एक-पर-एक उत्कृष्ट और विशिष्ट निबन्ध लिखते चले गए ।

पन्त अपने ऐतिहासिक प्रयासों के सबसे प्रामाणिक विश्लेषक हैं; अपनी कला के सर्वोत्कृष्ट समीक्षक; किन्तु 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में उन्होंने प्रसाद, निराला और महादेवी के भी व्यक्तित्व का विश्लेषण, कृतित्व का मूल्यांकन किया है । यहाँ पन्त की निर्वैयक्तिकता देखते ही बनती है; उनकी सन्तुलित, किन्तु अत्यन्त सरस समीक्षा-पद्धति का लोहा मानना ही पड़ता है ।

'छायावाद' नामकरण की विडम्बना पर पन्त जी कहते हैं : 'उस युग के काव्य में व्यक्त होने की चेष्टा कर रहे अन्तर्मूल्य तथा अन्तश्चेतना को न समझ सकने के कारण ही द्विवेदी-युग के वयोवृद्ध साहित्यिकों तथा आलोचकों ने, अपने काव्य-सम्बन्धी पूर्वाभ्यासों से उस नई काव्यवस्तु की संगति न बिठा सकने के कारण तथा नवीन कला-बोध के, अपनी अधिक स्पष्टता में, उन्हें अस्पष्ट प्रतीत होने के कारण, उस काव्य-धारा का नाम छायावादी काव्य और उस धारा के कवियों को छायावादी कवि कहना आरम्भ कर दिया जिसके कारण उनके विद्वत्ता-सम्बन्धी आत्मतोष की परितृप्ति होती रहती थी । इस प्रकार छायावाद का जन्म उन विद्याचञ्चुओं की उपेक्षा, अल्पता-बोधक भाव तथा अभिमान को ठेस लगने की प्रतिक्रिया के पलने में ही प्रारम्भ हुआ ।.....छाया ही आनेवाले युगों में उस काव्य के भाववाचक अस्तित्व-प्रकाश का पर्याय बनकर सन् '२० तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदैव के लिए आसीन हो गई ।'

मैंने तो, खैर, उस परम्परा में जन्म ही ग्रहण किया था; किन्तु तटस्थ भाव से भी जिन्हें उस युग की काव्य-साधना में अभिरुचि होगी, उन्हें पन्त जी का यह विश्लेषण और निष्कर्ष बावन तोले पाव रत्ती ठीक जँचेगा और काठ

खोदनेवाले की लम्बी चोंच की खट्-खट् आवाज से जिनके कान के पर्दे फट रहे थे, उनकी भी लगी बुझेगी । इधर निराला और पन्त का लहू पसीना एक हो रहा था, उधर राजनीति की सुँघनी सूँघनेवाले लाहौल पढ़ रहे थे । पगुराती हुई भैंस पर बीन का प्रभाव क्या पड़ता ? किन्तु पन्त ही गाते जाते थे :

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगास्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान !

जो शैतान के कान काटता था, वह उनके पंजे में कैसे आता ? परन्तु पन्त जी संझा फूलने पर शिस्त बाँधते थे :

तुम नृशंस नृप - से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित,
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद - मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर - संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
बह्नि, बाढ़, भूकम्प,–तुम्हारे विपुल सैन्य - दल !

कविता और राजनीति की टक्कर थी । राजनीति के खेलाड़ी कच्ची गोली नहीं खेले थे । कभी बापू को तमाशबीन बनाते थे, कभी जनता के आगे पल्ला पसारते थे । जीती मक्खी निगलनेवाले को बड़े आलोचक का मान दिया जाता था । तब पन्त जी लिख रहे थे :

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार,
चूम सुख - दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

आगे चलकर इतिहास के पृष्ठों पर बलपूर्वक अंकित यही छायावाद शब्द अपने अर्थ की ज्योति से भक्तिकाल के समकक्ष समादर प्राप्त करता है ।

द्विवेदी-युग के आचार्यों के पास 'समग्र अन्तर्दृष्टि न होने के कारण आलोचना के विकसित मानदण्डों' का अभाव था । उस युग के आत्मतुष्ट

आलोचक छायावाद की बाह्य परिक्रमा भर कर सके थे। पन्त जी यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि हिन्दी आलोचना का स्तर भी छायावाद द्वारा ही उन्नीत हुआ; वह पिटी-पिटाई रूढ़ियों से मुक्ति पा सकी। और, यहाँ मैं स्पष्ट हो लूँ कि यह काम पन्त और निराला के हाथों अग्रसारित हुआ। ऐसा कौन-सा सुधी पाठक होगा, जिसे पल्लव के 'प्रवेश' ने चमत्कृत न किया होगा; निराला के 'पल्लव और पन्त' ने चौंकाया न होगा। साहित्य-समालोचक के एक निबन्ध में निराला ने पं० पद्मसिंह शर्मा और आचार्य शुक्ल से—एक ही साथ जोर-आजमाइश की थी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में पीछे जो शुक्ल जी का कुछ बदला हुआ स्वर सुनने को मिला, इसका बहुत बड़ा कारण पन्त, प्रसाद, निराला के अगाध साहित्य-ज्ञान के प्रकाशित परिवेश में शुक्ल जी का आत्म-संशोधन था।

अवश्य ये सारी की सारी बातें सन् ४१ में प्रकाशित अपने 'साहित्य-दर्शन' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में मैं लिख चुका था[1]। और भी, प्रसाद एवं निराला-सम्बन्धी ऐसी अनेक मान्यताएँ 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में आई हैं, जो मैं पन्द्रह वर्ष पहले 'त्रयी' के निबन्धों में प्रकट कर चुका था[2]। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन से मुझे अतिरिक्त उल्लास इसीलिए हुआ कि बिहार के एक कोने में बैठ कर मैंने जो विचार व्यक्त किए थे, बिरवाही कर दिए जाने के बावजूद, हिन्दी की हृदय-स्थली से उन्हें समर्थ समर्थन मिला। अवश्य मैंने निष्कर्ष भर दिए थे, पन्त जी उनका वैज्ञानिक विश्लेषण भी करते हैं। छायावाद के अध्येताओं, जिज्ञासुओं और शोध-प्रबन्ध-लेखकों के लिए पन्त जी का यह आयास आर्ष-ग्रन्थ-सा महत्वपूर्ण है।

पन्त ने छायावाद-सम्बन्धी इस आकर-ग्रन्थ में प्रायः उन सारे आरोपित आक्षेपों का उत्तर दिया है, जो उन पर (छायावाद के नाम पर) लगाए जाते रहे हैं—उदाहरण के लिए काल्पनिक अनुभूति :

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास;

१. हिन्दी काव्यालोचन का क्रमिक विकास
—साहित्यदर्शन—पंचम संस्करण (भारती भवन, पटना)

२. त्रयी : प्रथम संस्करण (कला-निकेतन, पटना)

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास !
वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार !

–पल्लव

निराला पन्त की सूर्य्योज्ज्वल प्रतिभा-तूलिका से सौन्दर्य्य के सहस्रदल के पूर्ण प्रस्फुट होने की बात 'पल्लव और पन्त' में भी लिख गए थे; किन्तु परवर्ती आलोचकों को 'ग्राम्या' तक में काल्पनिक अनुभूति का ही आभास मिला था। पन्त जी कहते हैं :-'कोई भी गम्भीर, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है।' और शक्त-सबल शब्दों में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि–

'किसी भी महान् कवि के कृतित्व में आपको मेरे कथन के सत्य का प्रमाण मिल जायगा।' राम-रावण-युद्ध, राम-विलाप कवि की काल्पनिक अनुभूति ही है; हैमलेट, इयागो, औथेले, मैकवेथ ऐसे जटिल चरित्र कल्पना के ही चमत्कार हैं।

जैसे अन्तर्मुखीनता का अर्थ लोक-विमुखता नहीं है; जीवन से पलायन नहीं है; किन्तु छायावाद के अँधेरे में तीर चलानेवालों ने लक्ष्यभ्रष्टता को ही तैयार तीरन्दाजी माना है और जिस कारण महाकवि निराला को 'भारतीय और अंग्रेजी साहित्य'-नामक निबन्ध (फरवरी '३३) में तीरन्दाजों की नाक पर यह रख देना पड़ा है :

'अपनी शक्ति का पता अपने ही भीतर है, बाहर नहीं। इसलिए यहाँ अन्तर्मुख होने की शिक्षा दी गई है।'[१]

क्योंकि 'मैं निर्बुद्धि हूँ' यह बोध भी बुद्धि-साध्य है; शंकराचार्य्य के 'ज्ञानमात्मन्युत्पद्यते' का भी यही अर्थ है; वैसे ही इस काल्पनिक अनुभूति के

१. संभवतः निराला का संकेत उपनिषद् के ऐसे मन्त्रों की ओर है :–

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः
तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।

सन्दर्भ में पन्त जी को भी खूँटे के बल कूदनेवालों से जो कहना था, खुलकर कहा है :

'छायावादी कल्पना मध्ययुगीन, बासी, सामन्ती यथार्थ की सड़ाँध का आवरण हटाकर अपनी भविष्योन्मुखी प्रखर दृष्टि से जिस नवीन वास्तविकता की सम्भावना के अप्रकट सौन्दर्य को रूप-मांसल कला के उपादानों द्वारा रूपायित करने का प्रयत्न कर रही थी, वह (सौन्दर्य) केवल वायवीय नहीं था, उसमें भावी सांस्कृतिक वैभव तथा उच्च चैतन्य के उपकरण अन्तर्हित थे।...

इसीलिए वह अपने दृष्टिसंचय में नवीन क्षितिजों का प्रभात, नए श्रृंगों का प्रकाश, नवीन जीवन-व्याप्ति का सौन्दर्यबोध तथा नवीन स्वर्ग-शिल्पियों का रूपकला-विधान उतार लाया।'

–इस उपलब्धि की चर्वणा के क्रम में कवि पन्त का यह हिमाद्रि-रूप अन्तर्नयनों में साकार हो उठता है :

'शिखर-शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव-आत्मा कर दी ज्योतित,
हे असीम आत्मानुभूति में लीन
ज्योति-श्रृंगों के भूभृत् !'

T. L. Peacock के The four Ages of Poetry में कवि और कविता के विरुद्ध जो जहर उगला गया था, कहते हैं शेली (P. Shelley) ने उसी का मुँहतोड़ जवाब A Defence of Poetry लिखकर दिया था। पीकॉक ने कवि को अर्धबर्बर (Semi barbarian) बताया था, तो शेली ने उसे विश्व का अप्रत्यभिज्ञात नियन्ता (unackowledged legislator) घोषित किया था।

पन्त ने भी छायावाद के समझदार और नासमझ विरोधियों के उन तमाम तर्कों, आक्षेपों और आक्रमणों का कुछ ऐसा अपूर्व प्रतिवाद किया है कि कवि-रूप में प्रायः उपमान बने हुए शेली की, आलोचक-रूप में भी समकक्ष होकर, फिर-फिर याद दिलाई है। यों न उन्होंने लड़ाई मोल ली है, न ठानी है, अलबत्ता मुँहदेखे की मुहब्बत की जगह, मुँह दर मुँह कहने का साहस दिखलाया है।

जैसे गाडबिन की घोषणा का रूपान्तर शेली की कलाकृतियाँ नहीं हैं, कल्पना के सातत्य और आवेग की सघनता के बिना शेली एक महान् कलाकार नहीं हो सकता था, उसी प्रकार प्रबुद्ध अप्रबुद्ध आक्रमणों पर प्रत्याक्रमण की प्रचेष्टा भर पन्त ने नहीं व्यक्त की। उन्होंने छायावाद के बचाव (defence) में

जो कुछ कहा है उसकी नसों में उन्हीं का रक्त दौड़ता नजर आता है; वह जब भी छायावाद की पेशवाई करने निकले हैं, तब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर; अस्त्र-शस्त्र भी जंग लगे या सनातन से घिसे नहीं, खुद के ईजाद किए हुए; पैने, नुकीले, चमकते हुए ।

यह उच्छाय सौन्दर्य, यह अतल रस–हिन्दी आलोचना को सह्य हो, वह इसे रचनात्मक कहकर नजरअंदाज न करे तो अब और कुछ नया कह सकना कठिन होगा; क्योंकि ये लहरें चाँद को चूमने के लिए बेताब नहीं है; पूनम ने इन्हें नहीं उछाला; इस उछाल में सागर की गहराई की ऊर्ध्वमुखी परछाइयाँ डोलती नजर आती हैं ।

'छायावाद चित्रभाषामयी अभिव्यञ्जना शैली, सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों की अनुकृति, रहस्यवादी कल्पना, पश्चिम से उधार ली गई स्वच्छन्दतावादी, व्यक्तिनिष्ठ, विद्रोह-भरी आत्माभिव्यक्ति ही नहीं है,वह नवीन अन्तःसौन्दर्य से प्रेरित कलाबोध के दीप-दान पर चतुर्दिक नवीन जीवन-सौन्दर्य तथा भाव-प्रकाश बखेरती हुई चेतना की ऊर्ध्वमूल्य शिखा है, जो व्यापक विश्व-ऐक्य तथा लोक-साम्य की अजस्र स्नेहधार से पोषित मूर्तिमान मानव-मंगल का काव्य है ।'

सन् '६५ में प्रकाशित पन्त जी की इस अटूट आस्था की नींव में कहीं-न कहीं निराला के श्रमकण भी शामिल हैं । पन्त जी में जहाँ हरियाली लहलहाई है, निराला उस सख्त जमीन की पपड़ियाँ तोड़ते,-भुस्कुस निकालते रहे थे । सन् '२८ में साहित्य की नवीन प्रगति पर लिखते हुए वह अकेले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं० पद्मसिंह शर्मा को इकट्ठे अखाड़े में उतरने के लिए ललकारते हैं :–

''शायद शिक्षा की सुभिक्षा भी न पाई कभी एक कन' हम सबको कह दें, अच्छा हो, यदि इसके साथ ही अपनी छिपाई हुई वह जबरदस्त डिगरी भी शुक्ल जी जाहिर कर दें । हम लोगों को हलाहलानन्द स्वामी की ''एफ्-ए-फेल, इति आख्यया'', परिचय निर्णायिका तालिका पढ़कर बड़ा आनन्द आता है ।

'पाखण्ड प्रतिषेध' शुक्ल जी खूब करें, यहाँ आपत्ति को जगह दी ही नहीं गई, कहना सिर्फ यह है, खोलने में मंगली शुभ्र भावना का रंग–कवित्त छन्द के दायरे से निकलकर यह चरण मेरे स्वच्छन्द छन्द में आ गया है जिससे जान पड़ता है, शुक्ल जी के हठी अध्यापक ने तो नहीं, परन्तु उनके अनुकूल कवि ने मेरा शिष्यत्व स्वीकार कर लिया है........

आपका 'मंगली' 'मांगलिक' होता तो आपके दोष कट जाते । पर कटते कैसे ? आपकी 'वीणापाणि वाणी लोक-मानस-विहारिणी' ने लोक-विरोधियों का साथ तो कभी दिया नहीं, सदा से उनकी बुद्धि को भ्रष्ट करती आई है । उन्होंने साहित्य के उन्हीं कवियों के हृदय और कण्ठ में आसन जमाया है, जो अपने-अपने समय का सन्देश लेकर आए हैं । इस तरह आपके कण्ठ से भी उन्होंने उन्हीं का समर्थन करा दिया ।........

विलियम ब्लेक की रहस्यवाद की रचनाएँ बिलकुल निकम्मी ठहराई गई–यह दिव्य साहित्य-ज्ञान देने के लिए आपको धन्यवाद देकर मैं आपसे पूछता हूँ–

"तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है" के वक्त शायद भारतवर्ष भी घोर अज्ञान-तिमिर में डूबा हुआ था, जो इस तरह की बात उसने मान ली, परन्तु अब तो आपने अवतार-ग्रहण कर ही लिया है, लोगों को अज्ञानान्धकार से मुक्ति देने की शीघ्र कृपा करें और, 'हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि के मोहि' वाले सूर के इस परलोकवादी प्रलाप तथा छायामूर्ति के आने-जानेवाली उक्ति पर विश्वास करनेवाले भारत के हृदय में शीघ्र ही अपने दिव्य ज्ञान की ज्योति भर दीजिए, नहीं तो आपका अवतार अधूरा रह जायगा ।

"सुन्दरि, को धनि सहचरि मेलि, मो जीवन सँग करतहिं केलि" वाले गोविन्ददास, "सुमिरत सारद आवत धाई" वाले तुलसीदास, "अन्तर माधो बसि अहरह, मुख होते तुम भाषा केड़े लह" वाले रवीन्द्रनाथ, सूरदास, कबीरदास आदि अधिकांश कवियों ने ब्लेक की ही तरह जनता को घोर अन्धकार में डाल रक्खा है । आपने यदि कृपापूर्वक शरीर धारण किया तो ज्ञानाञ्जन शलाकया अज्ञान-तिमिरान्धानां चक्षुरुन्मीलन अवश्य कर जायँ । जिस तरह आपने अपनी कोई महान् उपाधि, अपार विद्या छिपा रक्खी है, उसी तरह इस अपूर्व ज्ञान-ज्योति को भी न छिपा रखिए, लोगों को "तुभ्यं श्री गुरवे नमः" कहने का यह जरा-सा अधिकार तो दीजिए ।"

अगले जमाने के आदमी छल-कपट नहीं जानते थे । अखाड़े में ताल ठोंककर मुकाबला करना चाहते थे । जिनके अगाड़ी-पिछाड़ी लगने का खौफ होता, वह अबे-तबे से पेश ही नहीं आते ।

विश्वविद्यालयों के भूगोल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिमालय की हैसियत रखते थे । निहत्थे निराला की विन्ध्य-सी बढ़ती उन्हें बुरी तरह

खलती, मगर उनकी बदकिस्मती से कोई भी अगस्त्य निराला को झुकाने आगे नहीं आता ।

संयोग से संस्कृत और फारसी के विद्वान् पं० पद्मसिंह शर्मा सम्मेलन के सभापति-पद से भरम गँवा बैठे । उन्होंने ऐसा तलवार का हाथ मारा कि आधुनिक हिन्दी-कविता का सर भँटा-सा उड़ा दिया । उर्दू में तसव्वुफ का रंग दिखाते हुए, बेचारे रहस्यवाद से ठीकरे पकवा दिए, जाने ऐसा क्या बिगाड़ा था उसने ! ककड़ी के चोर को कटारी से मारने दौड़े । ऐसा जान पड़ा, एक अर्से से निकलने के लिए अरमान मचल रहे थे ।

निराला अवसर ताकते रहते । यह मूँछों पर ताव देना उन्हें कुछ जँचा नहीं । आगे आ गए :-

"आजकल के नवयुवक कवियों की रचनाएँ बिलकुल निस्सार होती हैं या विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार अपने पिछले समय की कविताओं से अधिक पूर्णता लिये होती हैं, इस पर कई अधिकारी विद्वानों ने, पं० पद्मसिंह जी के भाषण लिखने के बहुत पहले, प्रकाश डाला है, फिर भी विद्वान् शर्मा जी ने उन पर विचार करने का श्रम स्वीकार नहीं किया ।......

अकबर और हाली की जिन उक्तियों से आजकल की कविता पर शिक्षा का प्राणहीन शव आपने रक्खा है, आप अवश्य नहीं जानते, उन उक्तियों की तुलना में आजकल के कवियों की उक्तियाँ बहुत आगे चली गई हैं, उस शिक्षा से उन्हें लाभ तो हुआ ही नहीं, बल्कि आपके ही वर्तमान साहित्य के ज्ञान की ढकी हुई मर्यादा प्रकाश में आई है ।

नये कवियों को इस तरह शिक्षा तो आपने खूब ही दी, पर उनकी एक पाई रहस्यवाद-वाली कविता की एक पंक्ति भी नहीं रक्खी । ऊपर से और एक बोझ रख दिया :-

'मगर एक इल्तमास इन नौजवानों से मैं करता हूँ,
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीखें !'

-अकबर

जिन पंक्तियों के बाद वर्तमान रहस्यवाद या छायावाद को इसी तरह समझते हुए आपने अकबर का यह उद्धरण दिया है, उस जगह आपकी समझ को देखते हुए यदि गो० तुलसीदास जी का यह पद-

'पिता तज्यो प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी,
गुरु बलि तज्यो नाह ब्रजवनितन भइ जग मंगलकारी !'

रख दिया जाय तो कैसा उसूल हो, जरा हृदय पर हाथ रखकर बतलाइए । क्या तुलसीदास जी का यह जवाब उन्हीं बुजुर्गों के लिए नहीं था, जो नाकाबिल समझे गए थे ? और 'हाली' की उक्तियों को हर जगह जो आपने हलाल किया है, क्या आप जानते हैं–प्राचीनता के रंग-रूप से ये नौजवान कहाँ तक परिचय रखते हैं ?''

आज जब पन्त जी की स्वर्णवीणा की मधुर झंकार सुनता हूँ, तब मुझे वीणा के तारों के लिए लोहा पीटते और पूरी ताकत से तार खींचते हुए निराला की अक्लान्त तेजस्विता भी दिख जाती है । मैंने खानापुरी के लिए ये लम्बे उद्धरण नहीं लिए, यह खार व खस जुटाना नहीं है, कम से कम निराला के सम्बन्ध में हिन्दी-आलोचना में कूड़ा-करकट जमा करनेवालों की कभी कमी नहीं रही है । व्यवसायी प्रकाशकों को जैसे वस्तु की प्रामाणिकता की परवा नहीं, आसूदा और आरामतलब पाठकों को भी नजर फिसलानेवाली छपाई से ज्यादा की जरूरत नहीं है ।

निराला ने 'पल्लव' को मंगलाप्रसाद पारितोषिक न मिलने पर निर्णायकों के ज्ञान को ललकारा था । 'पल्लव' ओर 'वीणा' की भूमिका भर पढ़कर उसके खिलाफ फतवा देनेवाले पं० पद्मसिंह शर्मा को चुनौती दी थी । और सन् '24 में ही पन्त पर पहला लेख लिखते हुए यह निस्संकोच घोषित कर दिया था :

''खड़ी बोली की जिस कविता का प्रचार किया गया था, जिसके प्रचारकों और कवियों को कितनी ही गालियाँ खानी पड़ी थीं, उसका स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानन्दन पंत है ।''

–'मतवाला', 3 मई 1924

यह निराला है, जिसकी परिमल और अनामिका की वर्षों में लिखी गई प्राय: सारी की सारी कविताएँ केवल '२३-'२४ के 'मतवाला' में प्रकाशित हो गई थीं, उसने ऐसे हर अवसर पर पहले पन्त और फिर प्रसाद के ही नाम लिए थे भूलकर भी अपना उल्लेख नहीं किया था !

यों भी बातचीत में कहा करते थे : बेशक मैंने ढेरों कविताएँ लिखी हैं और अब भी लिखता हूँ; किन्तु कवि तो पन्त ही हैं !

'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में पन्त जी ने भी निराला को महत्तम स्थान

दिया है । जिन शब्दों में निराला का मूल्य आँका है, शायद ही कोई ओछे और छोटे खयाल का कवि उनका प्रयोग करता, विशेषकर तब, जब वह समानधर्मा ही नहीं उद्‌भट प्रतिद्वन्द्वी भी थे । पन्त जी लिखते हैं :–

(क) "निराला जी दर्शन, तत्त्व या दार्शनिक चैतन्य को बोधात्मक अनुभूति से अपनी रचनाओं में अधिकतर अभिव्यक्त करते हैं । उनकी गीतिका के अधिकांश गीत इसके उदाहरण हैं ।

(ख) निराला का विकास प्रसाद की तरह मन्द गजगामी गति से नहीं हुआ, उन्होंने कविता-कानन में अपने समस्त प्रवेग के साथ सिंह की तरह प्रवेश किया और उनकी पहली ही कविता–'जूही की कली' ने कई अभिव्यंजना तथा शिल्प-कौशल के कारण आलोचकों की दृष्टि में हिन्दी जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया ।

(ग) सर्वप्रमुख तो उनकी सबल बौद्धिक रचनाएँ हैं, जिनमें उनकी अद्वैत दृष्टि का अखण्ड तेज, असीम सौन्दर्य तथा निगूढ़ सांकेतिक कला-वैभव है । यह उनके काव्य की ज्योतिर्मयी भूमि है ।

(घ) वह सचमुच ही हिन्दी के रवीन्द्रनाथ होते या उनसे भी बड़े होते......!

(ङ) **लता-मुकुल-गन्ध भार भर**
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर–

ऐसी सौन्दर्य-सम्भार से झुकी पंक्तियाँ निराला ही हिन्दी में लिख सकते थे ।......गीतिका के अनेक गीत जैसे निराकार चिदाकाश में प्रथमबार रूपगुण का ज्योति सौन्दर्य परिधान पहनकर कला में ढले हों !.......निराला जी का सौन्दर्य-बोध भाविक-चेतना से अधिक आत्मिक चेतना का ओज तथा प्रकाश लिए हुए है ।

(च) प्रसाद का शैव-व्यक्तित्व हिमालय के शुभ-शिखर-सा था तो निराला का शक्ति की झंकार से उत्ताल, दुर्लङ्घ्य तरंगों में आन्दोलित व्यक्तित्व एक विशाल समुद्र-सा, जिसके उद्दाम फेनिल ज्वारों के ऊपर प्रचंड सूर्य का जाज्वल्यमान आलोक रंग-विरंगी ज्वालाओं में सुलगकर, दृष्टि को चमत्कृत कर देता है ।

निराला छायावाद युग के पौरुष-प्रकाश के स्तम्भ हैं । वह अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व में अद्वितीय हैं ।"

इन थोड़ी-सी भरपूर पंक्तियों में क्या नहीं कहा गया है ! इन्हें पढ़कर ब्लेक की याद आ जाती है :

To see a world in a grain of sand
And heaven in a wild flower,
To hold infinity in the palm of your hand,
And eternity in an hour.

और, इतने से जिनका काम नहीं चलता, वे लिखेंगे ही : निराला लगभग छह फुट ऊँचे और चौड़े-चकले सीनेवाले दिग्गज व्यक्तित्व के व्यक्ति थे । सुर्ती फाँकते थे, ताड़ी-दारू पीते थे और जाने क्या-क्या करते थे ! और सब कुछ लिख चुकने के बाद भरतवाक्य लिखेंगे : वह महाकवि ही नहीं, महामानव भी थे !

संभवतः प्रस्तुत पुस्तक में पन्त ने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा जो ऐतिहासिक मूल्य का न हो । उनकी भाषा सहृदयता और वैज्ञानिकता के पुलिन डुबोकर ज्ञानामृत की धार उमड़ाती रही है । प्रसाद और निराला नहीं रहे, उन पर तटस्थ दृष्टि से विचार स्वाभाविक है; पण्डित हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने सबकी मौजूदगी में महादेवी जी को प्राथमिकता दी थी, पन्त को दूसरी और निराला को तीसरी श्रेणी में रक्खा था । पन्त जी ने उससे अधिक क्रान्तिकारी कदम नहीं उठाया है ।

पन्त जी महादेवी जी के व्यक्तित्व-विश्लेषण और कृतित्व-आकलन के क्रम मे ऊँचे चढ़कर कहते रहते हैं और मुझे नीचे-नीचे बहती महादेवी की खिलखिलाहट में टैगोर के-से सुरों की आहट मिलती रहती है :-

ए मुखेर पाने चाहिया रयेछ
केनो गो अमन कोरे ?
तुमि चिनिते नारिबे, बुझिते नारिबे मोरे !
आमि केंदेछि, हेसेछि, भालो जे बेसेछि
ऐसेछि जेतेछि सोरे
कि जानि किसेर घोरे !
कोथा होते एतो वेदना बहिया
एसेछे पराण मम
विधातार एक अर्थ-विहीन
प्रलाप-वचन - सम !

प्रसाद की शास्त्रीय सघनता आधुनिकता की छेनी को मँहगी पड़ती है,

वह उसे मनमाने ढंग से नहीं तराश सकती । कामायनी का जादू सर चढ़कर बोलता रहा, मुक्तिबोध की किसी ने एक न सुनी । अपने आप पैदा हुए युगबोध के मुकाबले लाइब्रेरी से निकला युगबोध धुएँ के बादल उड़ाता हुआ यहाँ-वहाँ फूला-फूला फिरता; फेंट पकड़ने पर काली आग भी उगलने लगता है, मगर उस आग या धुएँ का 'कामायनी-मैन्यूफैक्टरी' से कोई ताल्लुक नहीं होता ।

जैसे प्यार किया नहीं जाता, हो जाता है, ऐसे ही कामायनी लिखी नहीं जाती, लिख जाती है ।

कामायनी पढ़ने पर कितनी ही बार पन्त जी की यह स्निग्ध-सुरभित अनुभूति अन्तर को मौन स्पर्श से छूकर चन्दन-सा शीतल कर देती है :

"फूलों के रंगों की ज्वाला,
तरुवन का छायातप कम्पित
तुममें भू का कलरव कूजन
सौरभ गुञ्जन मर्मर गुम्फित
तुम स्वप्नों का नीरव पावक
सुलगाती प्राणों में पुलकित,
तुममें रहस्यमय मौन भरा,
तुम स्निग्ध शान्ति-सी विरह-द्रवित !"

पन्त जी ने अपना मूल्यांकन करते समय निर्मम संयम से काम लिया है । वह अपने आपको चाँद-तारों की बारात का दूल्हा नहीं बताते । नौबत-ब-नौबत अपने ऊपर लगाए गए आरोपों को अंक लगाकर मृगांक की मुस्कान बखेरते रहे हैं ।

x x x

ऐसे आलोचक हैं, जो पन्त जी को छायावाद का प्रतिनिधि कवि मानते हैं । ऐसे भी हैं, जो छायावाद के अन्त की घोषणा कर चुके हैं । छायावाद हो न हो, पन्त जी हैं ।

ऐसे आलोचक हैं, जो पन्त जी को प्रगतिवाद का प्रतिनिधि कवि मानते हैं । ऐसे भी हैं जो प्रगतिवाद को फिलहाल फ़ानी जिस्म की कैद से आजाद हुआ बताते हैं । प्रगतिवाद हो न हो, पन्त जी हैं ।

मैं समझता हूँ, पन्त जी का युगबोध आरम्भ से ही कुछ ऐसा तीव्र-तीक्ष्ण रहा है, जो उनके काव्यबोध को उचित क्षितिज का निर्देश देता रहा है; उसका

उज्ज्वल स्पर्श उनकी इन्द्रधनुषी काव्य-चेतना में कहीं खोया नहीं, सदा सुस्पष्ट, आलोकित होता रहा है । यह उत्कट युगबोध ही है, जो उन्हें गतिशील समसामयिक काव्यधारा का फिर-फिर प्रतिनिधित्व अर्पित करता रहा है ।

आज जब हिन्दी कविता में नौखेज प्रयोग-प्रपद्य की नौबत बज रही है, प्रगतिवाद के ढोल-ढाक मन्द पड़ गए हैं, यों पेशवरों को मुँहमाँगी मुराद मिल चुकी है । अब वे उतरे गले से निराला-पन्त के गुण गाते हैं ।

उस युग के खानदानी सँपेरों ने अपनी-अपनी पिटारियों में कुछ ऐसे-ऐसे साँप पाल रक्खे थे, बाजारों और दरबारों में जिनके करतब दिखलाकर वह अपना पेट पालते थे । मन्त्र के नाम वह पन्त जी के–

जननि, श्याम की वंशी-से ही कर दे मेरे सरस वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें बोलूँ अधिक मधुर, मोहन;
जो अकर्ण अहि को भी सहसा कर दे मन्त्र-मुग्ध नत-फन,
रोम-रोम के छिद्रों से माँ, फूटे तेरा राग गहन !

पदों को ही विषदन्त से डँसवाकर पढ़ा करते थे । अब उनके पास साँप नहीं, केंचुल है; अलबत्ता वह स्वांग बनाए फिरते हैं पेशेवर सँपेरों का ही । हिन्दी में प्रगतिवादी कविता के नाम पर जो थोड़ी-सी कर्ण-कर्कश और फूहड़ शब्दावलियाँ सुरक्षित हैं, उसका कारण और कुछ नहीं, निराला-पन्त की वे थोड़ी-सी कला-कृतियाँ ही हैं, जो उसी बीच रची गई हैं और जिन्हें उचित स्थान दिलाने के लिए उन राजनीतिक नारों को बचाए रखना जरूरी है । इससे भावी पीढ़ी को पन्त जी के कवित्व का गौरव समझने में आसानी होगी ।

x x x

समासतः 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' हिन्दी का एक गौरव-ग्रन्थ है ।

२६ मई, १९६६

●●●

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

काव्य कला का कदाचित् सर्वश्रेष्ठ मान-दण्ड 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' है। यों तो कला मात्र की बारीकी इन्हीं सात अक्षरों से पूरी तरह पकड़ में आ जाती है, किन्तु काव्य-कला में तो इनकी उपयोगिता और भी साफ उतरती है। मैं समझता हूँ, इस कसौटी पर शुद्ध सोना ही चमक सकता है, और अन्यान्य धातुएँ बाजार में अपनी कीमत पर इतरा कर भी, व्यवहार में जादू की तरह सर चढ़कर बोलने पर भी, इससे आँख बचाने में ही अपनी प्रतिष्ठा का बचाव समझती हैं। कभी वे आग-बबूला होकर इसके फिसड्डीपन पर 'बेसुरा' बजती हैं और कभी अकिंचनों का पक्ष लेकर अपनी व्यापक उपयोगिता का इजहार करती हैं :-

अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकांगके
किमारकूटाभरणेन न श्रियः ?

सोने के सपने भी देख सकनेवाली गरीब औरतें क्या अपने अंगों को पीतल के गहनों से सजाने से बाज आती हैं ? ऐसा करने पर क्या उनके अंग सचमुच ही सोने की-सी चमक-दमक से नहीं तरंगित हो जाते ?

कहने का प्रयोजन यह है कि रो-गाकर वे इस मानदण्ड को मानने से इनकार कर देती हैं; किन्तु मोम की पुतलियाँ आग के पास से भागने में ही कुशल समझती हैं।

मैंने देखा, कसौटी की अच्छाई-बुराई की अपेक्षा इसके कुल-शील या जातपाँत की ही अच्छी जाँच-पड़ताल हुई है। देशभक्त आलोचकों को इसका विदेशीपन अखरा है और विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रश्रय देनेवाले इसके बंगालीपन से ऊब उठे हैं।* किन्तु मैं इसे 'सत्, चित्, आनन्द' का पर्य्याय समझनेवालों में हूँ और इसकी व्यापकता को पूजता हूँ। मेरे हिसाब-किताब का यही आखिरी ब्योरा है कि कला का सर्वोत्तम मानदण्ड 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' है।

---

* कहते हैं 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' आपाततः औपनिषद वाक्य-सा प्रतीत होता है; किन्तु इसके प्रथम प्रवर्तक राजा राममोहन राय हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी नहीं, क्योंकि प्रवर्तित बाह्म-समाज के साहित्य में राजा राममोहन राय इसका प्रथम प्रयोग कर चुके थे। अवश्य महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसे अपनी प्रार्थना में सम्मिलित कर, सिद्धान्त-वाक्य बना लिया था।

यह कुछ दिनों तक ब्राह्म-समाज एवं ठाकुर परिवार तक ही सीमित रहा, किन्तु अब तो प्रत्येक भारतीय साहित्य द्वारा समादृत मानदण्ड है।

कहते हैं, अँगरेजी-साहित्य (The truth, the good, the beautiful) का शाब्दिक अनुवाद कर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को सत्, चित् आनन्द के समान राजा राम मोहन राय ने प्रतिष्ठित करना चाहा था।

इसकी व्याख्या भी, अन्यान्य सूक्तियों की ही भाँति, विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। मैं केवल 'सत्यम्' का अर्थ अपने ढ़ंग से समझता हूँ। अर्थात् प्राकृत सत्य की अपेक्षा वह मुझे आध्यात्मिक सत्य या आप्त-वचन की ओर संकेत करता मालूम पड़ता है। दूसरे शब्दों में वह मुझे विज्ञान का नहीं, ज्ञान का प्रतीक प्रतीत होता है।

साधारणतया इस कसौटी का आशय यह है कि कला में सचाई, विश्वकल्याण की कामना और सुन्दरता एक साथ ही अपेक्षित हैं। प्रकृति में जो घृणित और कुरूप है, सत्य होने पर भी उसे आदर्श कला के लिए अवांछनीय समझना चाहिए। प्रत्येक प्रकार की सुन्दरता कला के लिए आवश्यक या उपयोगी नहीं है। उसमें काट-छांट जरूरी है। उसके ग्राह्य-त्याज्य अंश का बोध 'शिवम्' के आधार पर होना चाहिए। अर्थात् कला में सत्य एवं सौन्दर्य 'शिवं' से परीक्षित होकर ही निखरते हैं; निखार से पहले उनके खरेपन की जाँच जरूरी है।

कोई कहे कि यह कसौटी बड़ी संकुचित है, इससे नियन्त्रित हो जाने पर कला की स्वरूप-योग्यता का पता ही नहीं लग सकता। वह एक खास साँचे में ढली हुई एक खास तरह की चीज हो जायगी, तो इसका उत्तर मैं दो प्रकार से दूँगा। एक तो 'विश्व' से व्यापक कौन-सी भावना हो सकती है, जिससे विश्वकल्याण की कामना करनेवाली कला की कसौटी छोटी या खोटी हो सकती है ? दूसरे, इस श्रेणी की कला-कृति की एक विशेष जाति होनी चाहिए। ईश्वर भी आकृति ग्रहण कर अपने को लोक-कल्याण के उपयुक्त बनाना चाहता है। इतना ही नहीं, निराकार रहकर भी विश्व-कल्याण में ही वह अपने को चरितार्थ समझता है। विश्व-कल्याण से बड़ी कोई व्यावहारिक बात हो ही नहीं सकती। रही कला की सजातीयता या एकरसता। यह तो अच्छी बात है। चाँद रोज उगने पर भी कभी पुराना नहीं पड़ता; उषा का अरुण-उल्लास किसी दिन भी फीका नहीं मालूम पड़ता। यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, फिर भी यदि एक-रस नहीं प्रतीत होता तो आदर्श कला ही क्योंकर एकरस प्रतीत होने लगी ? कवि के शब्दों में वहाँ भी तो यह कहने की गुंजायश है कि-

सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे
भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः

x x x

'जनम अवधि हम रूप निहारल

नयन न तिरपित भेल ।'

चाँद की एकरस शीतल उज्ज्वलता से मन चाहे रीझे, चाहे खीझे, चाँद न तवे की तरह तप सकता है, न कोयले की तरह काला पड़ सकता है, ठीक उसी प्रकार आदर्श कला अपने आदर्श से च्युत न होकर भी जन-मन के अनुरंजन की क्षमता, नित्य नवीनता बनाए रह सकती है । यहीं कलाकार की महत्ता देखी जाती है कि वह किस प्रकार हमें उसके प्रति उत्सुक एवं आग्रही बनाए रखता है । वस्तुतः उस महत्ता का उत्तरदायित्व उसकी सतेज, तीव्र अनुभूतियों पर ही निर्भर करता है । क्योंकि वैज्ञानिक तथ्य आवृत्तियों से घिस-घिसा जा सकते हैं; नीति-नियम की सधी बातें सुनत-सुनते उबकाई-सी आने लग सकती है, किन्तु अनुभूतियाँ सूखी पंखड़ियों को भी सरसब्ज और तरोताजा बना लेती हैं; कोई भी मृत विषय वह अमृत पीकर जी जाता, लहराने लगता है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा है-

Bare information on facts is not literature because it gives us merely the facts which are independent of ourselves. Repetition of the facts that the Sun is round, water is liquid, fire is hot, would be intolerable; but a description of the beauty of the Sunrise has its internal interest for us - because there, it is not the fact of the Sunrise, but its relation to ourselves, which is the object of perennial interest. यही कारण है कि 'चश्म पुरआब हैं औ' तिस प' जिगर जलता है; क्या कयामत है कि बरसात में घर जलता है ?' की उक्ति के अनुसार पावस मास में विरह-ज्वाला के धधक उठने की बात परम्परा-मुक्त होने पर भी विद्यापति की राधा जब अपनी अनुभूतियों से भरकर बरस पड़ती है कि-

'सखि हे, हमर दुखक नहीं ओर

इ भर बादर; माह भादर सून मन्दिर मोर ।'

तो अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'-कैसा भी संग-दिल पिघलकर पानी-पानी हो जाता है । अनुभूति-प्रयुक्त भाव-तीव्रता विषय के पुरानेपन की ओर आँखों की कोर चुभोने नहीं देती ।

तो, मैंने यही कहा कि विविधता लाने के ख्याल से ख्वाहमख्वाह कला

के आदर्श का खून नहीं किया जा सकता । जातीय विशेषता संकोच का नहीं, विस्तार का द्योतक होती है । कश्मीरियों की स्वर्गीय सुषमा उनका दोष नहीं, गुण है । उसी प्रकार 'महत् रचना' का सत्य, शिव, सुन्दर होना उसकी जातीय विशेषता ही है ।

'सत्यम्' और 'सुन्दरम्' के बीच में 'शिवम्' को रखकर मानदण्ड के कल्पक ने बड़ी ही दूरदर्शिता दिखलाई है । सत्य और सुन्दर जैसे दो छोर हैं, जिन्हें 'शिव' ही सन्तुलित करके रखता है । 'सत्य' जैसे अपनी प्रकृति से ही निर्मम और कठोर है, दूसरी ओर 'सुन्दर' अपने नाम और रूप से भी मोहक, उन्मादक । केवल निर्ममता रूक्ष होने के कारण उपेक्षित हो सकती है और केवल मोहकता अपनी चिपचिपाहट से प्रगति की पाँखें उलझा रखनेवाली । फलतः दोनों का सन्तुलन शिव को बीच में ले आने से अनायास हो जाता है और जीवन में दोनों समान रूप से उपयोगी हो जाते हैं । 'सत्यम् ब्रूयात्, प्रियम् ब्रूयात' का यही अर्थ है । इसमें 'सत्य' के साथ 'प्रिय' (सुन्दर) जोड़कर उसे 'शिव' बनाने की ही सीख दी गई है ।

अस्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह 'सत्य' बड़ा ही दुरूह है । तर्क-बुद्धि ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या कर इसे जटिलतर कर दिया है; यद्यपि अपने आपमें यह अत्यन्त निर्दोष है । प्रसाद के शब्दों में-

"और सत्य ! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है ।
मेधा के क्रीड़ा-पञ्जर का
पाला हुआ सुआ है ।
सब बातों में खोज तुम्हारी,
रट-सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के
बनता छुई मुई है !"

इसलिए वैज्ञानिक सत्य वाली बात अधिक प्रचलित होने पर भी मैं 'सत्य' का अर्थ निर्मम किंवा चरम सत्य ही समझता हूँ । मेरे विचार से निर्मम सत्य भी कला के पक्ष में विशेष उपयोगी नहीं । पुत्र की मृत्यु के पश्चात् माता का करुण-क्रन्दन कला नहीं है । दूसरी ओर रंगमंच पर उसका सफल अभिनय

निर्मम सत्य भी नहीं है । हाँ, अभिनय की वह तन्मयता जिससे सत्य और कला में तादात्म्य उपस्थित हो जाता है, कला-सृष्टि का उपयोगी सत्य है ।

यहाँ मैं 'उपयोगी' सत्य का प्रयोग उपयोगितावाद के सस्ते अर्थ में नहीं कर रहा । मेरा अभिप्राय उसकी बहुमूल्यता से है, जिस कारण वह परम-प्रिय बन जाता है ।

सत्य का अर्थ मैंने 'आप्तवचन' भी बताया है । भगवान् पतंजलि ने 'आप्त' की व्याख्या इस प्रकार की है-

'आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्र्येन
निश्चयवान्, रागादिवशादपि नान्यथावादी यः सः ।'

अर्थात् उस प्रामाणिक व्यक्ति को आप्त कहा जाता है, जो अपने अनुभव से (अपरोक्ष का साक्षात्कार कर) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रत्येक प्रकार से निश्चय रखनेवाला हो, कैसे भी राग-द्वेष में पड़कर उल्टी-सीधी बात न कर सकता हो । अर्थात् जो पंजाब के चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट आदि को पंजाब के लेखक या कवि कहे बिना बिहार के राधाकृष्ण, वियोगी आदि को बिहार के कथाकार या कवि कहने की भूल न करता हो; हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रान्तीय सीमाएँ बाँधने का वैध अधिकार न रखता हो । ऐसे व्यक्ति की उक्ति 'सत्य' कही जा सकती है । विषय-वस्तु के अनुसार इसके भी (स्थूल और सूक्ष्म) दो प्रकार हो सकते हैं । स्थूल का वैज्ञानिक सत्य में अन्तर्भाव हो सकता है और सूक्ष्म का आध्यात्मिक सत्य में, इसलिए इन पर पृथक् टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं ।

(२)

वैसे तो किसी भी 'महत्' रचना में पूर्वोक्त तीनों तत्त्व (सत्यं, शिवं, सुन्दरम्) रहते ही हैं, किन्तु सर्वत्र सबकी प्रधानता सम्भव नहीं है । प्रधान तो कोई एक ही होगा । यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में वेद-उपनिषद आदि सत्य प्रधान हैं, रामायण-महाभारत आदि शिव-तत्त्व प्रधान और कवि-कुल-गुरु कालिदास की रचनाएँ सौन्दर्य प्रधान । होमर-दाँते की रचनाएँ सत्य-प्रधान हैं, शेक्सपियर-मिल्टन की शिव-तत्त्व-प्रधान और शेली-कीट्स-वायरन की सौन्दर्य-प्रधान । कबीर की रचनाएँ सत्य-प्रधान हैं, तुलसीदास की शिव-तत्त्व-प्रधान और सूर-मीरां-विद्यापति आदि की सौन्दर्य प्रधान ।

हिन्दी के नवीन साहित्य में यद्यपि सौन्दर्य-सृष्टि का ही अधिक ध्यान

रखा गया है, किन्तु कवियों की वैयक्तिक अनुभूतियों के कारण विभिन्नता आ ही गई है । तदनुसार रवीन्द्रनाथ की व्यंजना-शैली से प्रभावित होकर भी नए कवियों के भाव एक-एक तत्त्व का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व करते से मालूम पड़ते हैं ।

निरालाजी कबीर की परम्परा में आते हैं अर्थात् सत्य-प्रधान हैं, प्रसाद जी और महादेवी ही शिव-तत्त्व-प्रधाान हैं और पन्त जी सौन्दर्य-प्रधान ।

ज्ञानी कबीर कहते हैं -

"साधो एक आपु जग माहीं ।
दूजा करम भरम है कृत्रिम
ज्यों दर्पण में छाहीं ।
जल तरंग जिमि जल ते उपजै,
फिर जल माहिं रहाई ।
काया झाँई पाँच तत्त्व की
विनसे कहाँ समाई ।"

और द्रष्टा कवि निराला पूरे विश्वास के साथ अपना विश्व-दर्शन यों प्रकट करते हैं-

"जग का एक देखा तार
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर-झंकार !
बहु-सुमन, बहु-रंग-निर्मित एक सुन्दर हार,
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार !
जग का एक देखा तार !"

इसी प्रकार कबीर का एक और पद है-

'साधो, एक रूप सब माहीं
अपने मनहिं विचारि के देखो और दूसरो नाहीं ।'

निराला जी ने भी 'प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योतिधार' वाले अपने सुप्रसिद्ध पद में लिखा है-

जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर-अतीत आशा, सुख, सब भय,
सब में तुम, तुम में सब तन्मय
कर-स्पर्श-रहित और क्या है ? अपलक-असार !

निश्चय ही सन्त कबीर की वाणी में कवि के भाव-गीतों की अपेक्षा अधिक ऋजुता पाई जाती है, किन्तु मैं तो यहाँ उनके सत्य (परमार्थ) मात्र पर दृष्टि डाल रहा हूँ। अभिव्यक्ति तो अन्ततः अभिव्यक्ति ही है, तात्त्विक-दृष्टि से दोनों की भावधारा दर्शनीय है।

कबीर ने 'देखो' कहकर अपने प्रखर अनुभव बड़ी ही दृढ़ता और निष्ठा से प्रकट किए हैं, मैंने देखा, निराला ने भी अपने गहन चिन्तन उसी सुदृढ़ अनुभूति के साथ, ठीक उसी स्तर से प्रकाशित किए हैं। कबीर कहते हैं-

'तन धर सुखिया कोई न देखा,
जो देखा सो दुखिया हो।'

इधर निराला ने भी कहा है-

'देख चुका, जो-जो आये थे, चले गये!
मेरे प्रिय, सब बुरे गये, सब भले गये!'

कबीर कहते हैं-

'जोगी दुखिया जंगम दुखिया
तपसी को दुख दूना हो,
आशा तृस्ना सब को ब्यापै
कोई महल न सूना हो!'

और निर्द्वन्द्व निराला कहते हैं-

चिन्ताएँ, बाधाएँ
आती ही हैं, आएँ,
अन्ध हृदय है,बन्धन निर्दय लाएँ,
मैं ही क्या? सब तो ऐसे ही छले गए!
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब भले गए!!

ऊपर उद्धृत 'जग का एक देखा तार'- वाले गीत में भी ऐसा ही स्वर सुनाई पड़ता है। 'बेला' की गजलों में कबीर के-से 'सत्य' उद्भासित करनेवाले बहुत से पद (शेर) हैं।

'अमृत के घूँट वे
दुनिया ने जो पिए,
टूटी भेद की दीवार
देखता चला गया!

X X X

उठी निगाह कि कहाँ से
कहाँ हुए हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
में ह्रास बजता था !

प्रसाद जी शिव-तत्त्व-प्रधान हैं, यह पहले कहा जा चुका है । शिव - लोक-मंगल का पक्ष समर्थित करनेवाला समन्वयवादी होता है । यह 'इदं' को 'अहं' से अन्वित कर लेता है । उसके हृदय-सिन्धु में लघु-लघु लहर 'करुणा की नव अँगड़ाई-सी' उठती है; उसकी आँखें 'करुणा-कादम्बिनी' बनकर बरसती हैं । वह अग-जग के ओर छोर तक अपनी उदार सहृदयता फैलाना चाहता है ।

'तुम हो कौन, और मैं क्या हूँ,
इसमें क्या है धरा, सुनो,
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित,
मेरे क्षितिज उदार बनो !'

सुख-दुख, आशा-निराशा की द्वन्द्वात्मकता उसे दबा नहीं पाती, वह वहाँ भी एक अपूर्व समन्वय देखता है-

'मानव-जीवन-वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का;
दुख-सुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का ।'

X X X

चेतना-लहर न उठेगी
जीवन-समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग-प्रलय की
विच्छेद-मिलन फिर होगा

'काम', अदूरदर्शी लोग जिसे अकारण ही बदनाम किए हुए हैं, उनकी दृष्टि में मंगलमय श्रेय और सृष्टि की इच्छा का परिणाम है । वह बड़ी ही सहृदयता के साथ याद दिलाता है-

'जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल;
ईश का यह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल !

और जिस नारी को भोग-वासना का यन्त्र मात्र समझने की भूल की जाती है, उसे वह मानव-जीवन के समतल पर बहनेवाली अमृतमयी सुरसरिता समझता है-

'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पदतल में
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो-
जीवन के सुन्दर समतल में !'

वह नास्तिक तो क्या, श्रद्धावान होता है, ईश्वरत्व-परम आनन्द-के प्रति मन-प्राणों से उत्सुकता-उन्मुखता दिखलाता है, किन्तु लोक-कल्याण की उदात्त कामना के कारण वह यह कहना नहीं भूल सकता है कि - 'विजयिनी मानवता हो जाय !'

x x x

पन्त जी 'सुन्दरम्' के कवि हैं । कीट्स और ब्राउनिंग की भाँति वह भी कह गए है-

'अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों का सन्धान ।'

और सचमुच ही 'कहाँ है सुन्दरता का पार !' सोचनेवाला कवि-

'सुन्दर, शिव, सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल, जन-जीवन से हो एक प्राण ।'

कहने अवश्य लगा है, किन्तु आज भी वह 'असुन्दर को सुन्दर' बनाने की ही चेष्टा में है । वस्तुत: पन्त की कविता का प्राण सौन्दर्य ही है, प्रयत्न करने पर भी वह उससे परे नहीं हो सकते । जब वह गाँव की ओर नजर डालते हैं, तब यही दिखाई पड़ता है कि-

'फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,

लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की-सी उजली जाली'

x x x

मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,-
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन-मन ।'

उनका यह परवर्ती वर्णन 'नौका-विहार' की सुन्दर पंक्तियों से सम्पूर्ण समता रखता है -

'सिकता की सस्मित सीपी पर
मोती की ज्योत्स्ना रही विचर'
'गोरे अंगों पर सिहर-सिहर
लहराता ताल-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर ।'

'अस्तु, जब वह मानव-मन की जाँच-पड़ताल करते हैं, स्तर उभार-उभार कर उसकी निधि, उसका संचय देखना चाहते हैं तब भी 'जग के छवि-उपवन' के ही फूलों पर उनकी आँख अटकती है । वह वायु को भी 'निखिल छवि की छवि' कहकर सम्बोधित करते हैं । 'भारतमाता' राहुग्रसित शरदेन्दुहासिनी' दीख पड़ती है । फाल्गुन का सूनापन अनन्त-शिखाओं में सुलगता है ।

इतना ही नहीं, 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया, बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?' कहकर प्राकृतिक सुविस्तृत श्री की अर्चा के लिए बाला के बाल-जाल से बच निकलनेवाले कवि का मन सब ओर से सिमट कर जब 'मानव' से आ मिलता है, तब इस नए आकर्षण में भी, सौन्दर्य ही प्रधान हेतु बन बैठता है ! वह कहते हैं-

'सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव, तुम सब से सुन्दर-तम !'

इसमें सन्देह नहीं कि मानव के प्रति यह अतिशय स्नेह अनोखा है । तुलनात्मक दृष्टि से, प्रकृति की मोहिनी से मानवीय सौंदर्य की ओर आकृष्ट होना कवि का बौद्धिक परिवर्तन भी प्रकट करता है; किन्तु इसके साथ ही यह

भी सत्य है कि कवि-हृदय आज भी सौन्दर्य्य-प्रिय है; सौन्दर्य्य के माध्यम से ही उनकी काव्य चेतना को सही-सही परखा जा सकता है ।

(३)

श्रौत और स्मार्त प्रणालियों में जैसा अन्तर है, या गार्हस्थ्य और संन्यास में जैसा विभेद है, सत्य और शिव में भी वह वैसा ही है । जैसे एक शुद्ध ज्ञान है, दूसरा शुद्ध कर्म । मुक्ति दोनों के द्वारा सम्भव है, पथ मात्र में पृथक्त्व प्रतीत होता है केवल । किन्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' माननेवाले वेदांती कर्म को चित्त-शुद्धि का उपाय मात्र मानते हैं । चित्त-शुद्धि के अनन्तर ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है । इसलिए कर्म और ज्ञान, उपाय तथा उपेय होकर समन्वित से हो गए हैं ।

और सुन्दर ? वह भक्ति या प्रेमस्थानीय है । भक्तगण कर्म और ज्ञान के कायल नहीं होते । यद्यपि आर्त्त जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, - इस वर्गीकरण के अनुसार 'तेषां ज्ञानी नित्य-युक्तः एकभक्तिर्विशिष्यते' कहा गया है; किन्तु भक्तगण भक्ति की ही भिक्षा माँगते हैं, उन्हें मुक्ति नहीं भाती । 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भिक पदों में सभी देव-देवियों से भक्तशिरोमणि तुलसीदास जी राम-भक्ति की ही याचना करते हैं, मुक्ति या निर्वाण की नहीं । मैं समझता हूँ; पूर्वोक्त प्रकार से सौन्दर्य-प्रधान कवियों की भी चार श्रेणियाँ हो सकती हैं - और चौथा सर्वश्रेष्ठ होकर भी यही कह सकता है कि-

Beauty is truth, Turth Beauty
That is all ye know,
and all ye need to know.

पहले यह कहा जा चुका है कि मेरी यह व्याख्या कवियों के एक विशिष्ट दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही कल्पित हुई है । जिन तीन कवियों पर सविशेष प्रकाश डाला गया है, उनमें भी कहीं न कहीं तीनों गुण पाए जाते हैं, किन्तु मैंने 'प्रधान' को ही यहाँ चुना है ।

जहाँ इन तीनों - प्रेम, कर्म और ज्ञान का संगम हो, वहाँ 'महत्ता' की सविस्तार चर्चा ही व्यर्थ है । मेरे विचार से रवीन्द्रनाथ वैसे ही महान् हैं, सत्य, शिव और सुन्दर यह त्रितत्त्व उन महामहिम में अपने पूर्ण विभव के साथ सामंजस्य पा गया है ।

जनवरी '४४

●

अभिधा प्रकाशन